UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180791

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81.6/J61S Accession No. G.H. 776

Author जितेन्द्र कुमार ।

Title स्वर के दीप । 1954

This book should be returned on or before the date last marked below.

स्वर के दीप

श्री जितेन्द्र कुमार

अलका-प्रकाशन
पो० खगड़िया
जिला (मुंगेर)

प्रकाशक
अलका-प्रकाशन
पो० खगड़िया (मुंगेर)

प्रथम संस्करण
जुलाई १९५४
मूल्य तीन रुपये

मुद्रक :—
मोहन प्रेस,
पटना—३

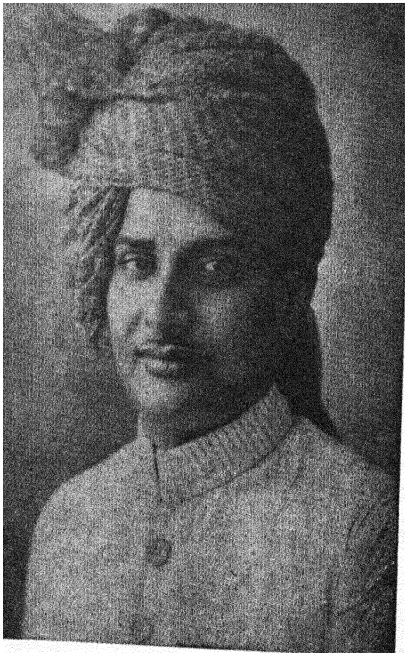

ठाकुर श्री नागेश्वर प्रसाद सिंह
रईस, पिरनगरा ड्योढ़ी,
जिला (मुंगेर)

परम विद्यानुरागी

सुहृद्वर

ठाकुर श्री नागेश्वर प्रसाद सिंह

रईस, पिरनगरा ड्योढ़ी

जिला मुंगेर

के

कर-कमलों में

सप्रेम

समर्पित

निवेदन

भारती-मन्दिर मे कम्पित हाथों, 'स्वर के दीप' लेकर उपस्थित हो रहा हूँ। इस अवसर पर जहाँ मेरे मानस में अपार आनन्द का भावोद्रेक हो रहा है, वहाँ हृदय शंकाशील भी है कि ये दीप जाने कब तक जल पायँगे? झंझावात की आशंका बार-बार हृदय को उद्वेलित कर देती है।

इन दीपों की ज्योतिशिखा कैसी है, दीप्ति कैसी है, उद्भास कैसा है—यह बताना मेरा काम नहीं है। यह सब बताना उनका काम है, मेरा आशय है सुधी समीक्षकों से, जिनकी अधिकार-सीमा की ये सब बातें है।

मैं तो विनीत भाव से वाणी-मन्दिर मे स्वर के दीप जलाने आया हूँ और चाहता हूँ—आप सब सहृदय जनों की मंगल-कामना मेरे साथ रहे। कामना कीजिए कि इन दीपों की आलोक-शिखा प्रबल झंझावात मे भी अकम्पित रहे, अचंचल रहे।

३१ जुलाई
१९५४

—जितेन्द्र कुमार

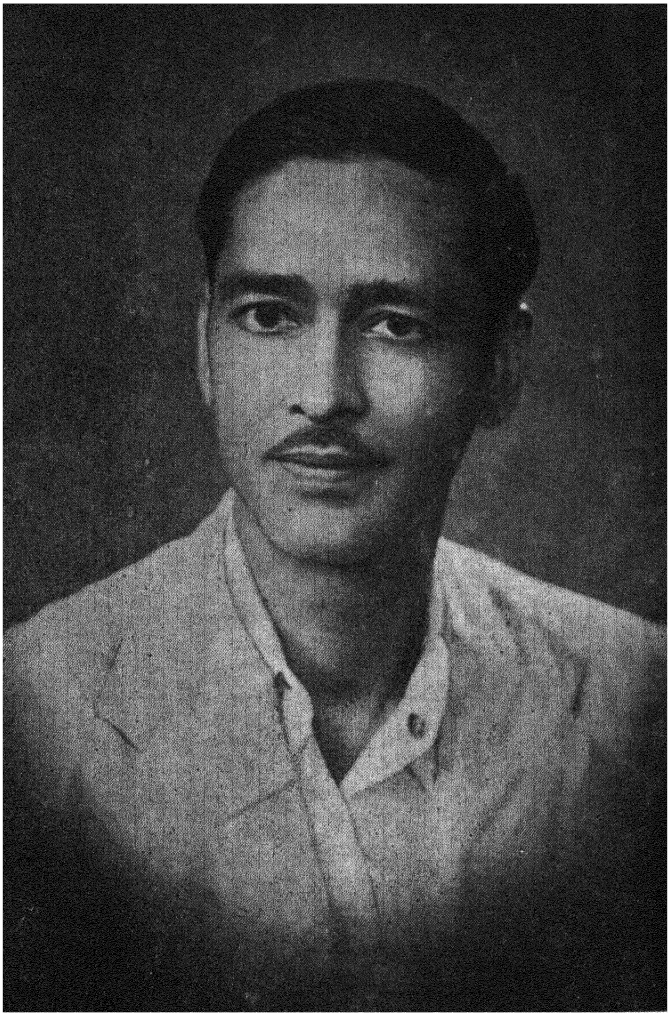

श्री जितेन्द्र कुमार

भूमिका

'स्वर के दीप' श्री जितेन्द्र कुमार के गीतों का संग्रह है। गीत मैंने तो कम लिखे हैं, किन्तु मेरा विश्वास रहा है कि गीतों मे कवि-कला की जैसी जाँच होती है, वैसी और कहीं नहीं। साहित्य का आनन्द कविता में अत्यन्त केन्द्रित होता है और कविता का जो आनन्द है वह सबसे अधिक गीतों में रहता है। गीत, वास्तव में, कविता का निचोड़ होते हैं। किन्तु इसीलिए गीत लिखना कठिन भी होता है। गीत एक विन्दु हिमकण होता है। गीत किरण की एक नन्हीं झाँकी होता है। गीत की एक कड़ी में कभी-कभी संपूर्ण जीवन झंकृत हो उठता है।

हिन्दी में जो नये गीत बच्चन जी के मार्ग पर बने हैं उनकी एक विशेषता यह भी है कि उनके भीतर उर्दू ग़ज़ल की सारी विशिष्टताएँ समायी हुई हैं। काफिया और रदीफ, एक पद में एक भाव कह कर नये पद में नये भाव कहने की परिपाटी और प्रेम अथवा दर्शन के इर्द-गिर्द घूमने की उमंग, ग़ज़ल के ये सारे लक्षण हिन्दी के नये गीतों में आ गये हैं। मेरा ख्याल है, इन गीतों से हिन्दी कविता की समृद्धि में वृद्धि हुई है।

'स्वर के दीप' के गीतों में भी ये सभी लक्षण मौजूद हैं। ग़ज़ल की सादगी और चुटीलापन, दोनों को आत्मसात् करके जितेन्द्र कुमार के गीत चुटीले हो उठे हैं। कितनी ही पंक्तियाँ तो ऐसी है कि भाषा की स्वच्छता देखते ही बनती है।

"मेरा प्यार तुम्हारे प्राणों पर कैसे प्रिय, भार बन गया?"

× × ×

"मेरे पतझर में मुखरित है मधुऋतु का इतिहास सुनहला।
मेरी पीड़ा में कुसुमित है स्वप्नों का आभास सुनहला।"

इस संग्रह में कितने ही गीतों का स्वर भक्त कवि का स्वर है। किन्तु यह भक्ति भक्त की नहीं, कलाकार की है जैसा आधुनिक कविता मे कलाकार का रहस्यवाद भी उतरा है। हम सब लोग शौक के मारे गा रहे हैं, इसलिए, हमारी भाषा में सजावट, सादगी और भावों में रमणीयता काफी होती है। जिस दिन हम लाचार होकर गाने लगेंगे उस दिन हमारे काव्य मे वेधकता भी उत्पन्न हो जायगी।

जितेन्द्र कुमार जी को बधाई कि उन्होंने इतने अच्छे गीत लिखे।

—रामधारी सिंह 'दिनकर'

नई दिल्ली
१३-५-५४

अनुक्रम

प्रथम पंक्ति		पृष्ठ संख्या
१—स्वर के दीप जलाकर	..	१
२—मेरा भाव-विहग उड़ पाये	..	३
३—कण-कण में है मूर्त्ति तुम्हारी	..	५
४—मलयानिल बन छ-छ जाता	..	७
५—आज बरसते हैं बादलदल	.	९
६—यह कैसा है बन्ध कि	..	११
७—बीन बज रही कैसी	..	१३
८—मेरी पूजा, मेरी अर्चा	..	१५
९—मुझे विरागी किए जा रहा	..	१७
१०—किसकी सुधि के सौरभ से	..	१९
११—प्रतिपल राग जगाता मेरा	..	२१
१२—मेरे स्वप्न सजीव बनें	..	२३
१३—मेरे बन्ध न कभी खुलेंगे	..	२५
१४—यह मलयानिल का झोंका है	..	२७
१५—मेरे मन की उमड़-घुमड़	..	२९
१६—स्वप्न तुम्हारा क्यों यों मेरे	..	३१
१७—आज चाँदनी भर आई है	..	३३
१८—आओ तो इस शून्य समय में	..	३५
१९—रात सुनहला सपना खिलता	..	३७
२०—मेरा तिमिर भरा मन	..	३९
२१—पीर नहीं यह मेरे प्राणों में	..	४१
२२—मेरे रन्ध्र-रन्ध्र में बजती	..	४३
२३—तुम हो कौन? बता दूँ?	..	४५
२४—जलती पाकर स्नेह तुम्हारा	..	४७
२५—कोई दर्द हृदय के सागर को	..	४९
२६—बादल बरस रहे हैं, लेकिन	..	५१
२७—मेरे गीत अधूरे यदि तुम	—	५३

२८—मेरी इच्छा, मेरी आकांक्षा .. ५५
२९—प्यार-प्रीति के सूक्ष्म तन्तु को .. ५७
३०—जीवन के ताने-बाने में .. ५९
३१—प्रेम तुम्हारा मेरे मन का .. ६१
३२—प्रिय, वे चरण कहाँ .. ६३
३३—प्रेयसि, तेरी ही प्रतिध्वनि .. ६५
३४—यह सारा अस्तित्व विभा के .. ६७
३५—दो ऐसा स्वर जिससे अपनी .. ६९
३६—मेरा तो हर श्वास तुम्हारा .. ७१
३७—जाने कितने सुधि-तारों मे .. ७३
३८—तेरे स्मृति-कुंजों में उड़ना .. ७५
३९—देखो, रूप तुम्हारा ही है .. ७७
४०—आओ अपनी पग-पायल से .. ७९
४१—दो वरदान कि गीत तुम्हारा .. ८१
४२—मैं क्या हूँ? मैं प्राण, .. ८३
४३—तुम से नाता जोड़ .. ८५
४४—कोई स्वप्न-द्वार पर मुझको .. ८७
४५—रात अँधेरी है ओ साथी .. ८९
४६—किरण, तुम्हारा स्वर्ण हास . ९१
४७—मेरा प्यार तुम्हारे प्राणों पर .. ९३
४८—अन्धकार से लड़ने वाला .. ९५
४९—कहाँ लिए जाती हो मुझको .. ९७
५०—घिर आये घनश्याम गगन मे .. ९९
५१—जाओगी तुम—एक यही ध्वनि .. १०२
५२—मेरे आँसू में रंजित है .. १०५
५३—पथ निःशेष दिया चलने को .. १०८
५४—चरण सदा चलते आये है .. १११
५५—तुम हो चरम सिद्धि मेरी .. ११३

१

स्वर के दीप जला कर मैं करता हूँ चिर छवि का आराधन !

चिर छवि, जो जग के सम्पूर्ण
असुन्दर को भी कर दे सुन्दर,
चिर छवि, जो निज प्राण-पाश में
महामरण को ले सहसा भर,

चिर छवि, जो निज दिव्य स्पर्श से
रजकण को भी रजत बना दे,

प्राणों के पंकज में भर दे प्रचुर प्रेम का परिमल पावन !
स्वर के दीप जला कर मैं करता हूँ चिर छवि का आराधन !

—२—

यह स्वर की वन्दना अहर्निश,
यह स्वर की साधना सनातन,
यह स्वर की अर्चना अनाहत,
यह स्वर-सम्वर्द्धना चिरन्तन,

यह स्वर की सौन्दर्य-शिखा :
आलोक-प्रभा जिसकी रज-रज में,

रचता जाता स्वर-लहरी से एक स्वर्ग-संसृति मैं नूतन !
स्वर के दीप जला कर मैं करता हूँ चिर छवि का आराधन !

दीप मृत्तिका का, जिसमें
प्राणों का मधुर स्नेह जलता है,
होता अन्तर-तिमिर छिन्न,
निखरी आती प्राणोज्ज्वलता है,

भय-संशय की काल-यामिनी
होती जाती क्षीण, शेष-सी,

और निखरता आता नये शिखर पर नव आनन्द-जागरण !
स्वर के दीप जला कर मैं करता हूं चिर छवि का आराधन !

स्वर के दीप जलें युग-युग तक,
युग-युग तक तम घिरे न किंचित्,
युग-युग तक गन्तव्य पथिक का
परिचित रहे, रहे उद्भासित,

युग-युग तक आशा-उमंग के
सुमन खिलें शत-शत जीवन में,

गीतों की अंजलि में भर-भर, करता हूँ ज्योतिष्कण अर्पण !
स्वर के दीप जला कर मैं करता हूँ चिर छवि का आराधन !

२७ । २ । १९५३

२

मेरा भाव-विहग उड़ पाये, ऐसा वह आकाश कहाँ है ?

आजीवन चलता आया है
चिर आकर्षण का अन्वेषण,
आजीवन पलता आया है
छलना में आशा का जीवन,

आजीवन चलता आया है
धूप-छाँह का चक्र चिरन्तन,

मुझे बाँध ले चिर प्रकाश में, ऐसा वह छवि-पाश कहाँ है ?
मेरा भाव-विहग उड़ पाये, ऐसा वह आकाश कहाँ है ?

—४—

अलि-गुंजन लगता है जैसे
भ्रम का स्वन, मिथ्या की वाणी;
मलयानिल लगता है जैसे
स्वप्न-लोक की मर्म-कहानी,

किरणों की रंगीनी ? वह तो
मन-प्राणों की अनजानी-सी,

सुख की एक कली खिल पाये, ऐसा वह मधुमास कहाँ है ?
मेरा भाव-विहग उड़ पाये, ऐसा वह आकाश कहाँ है ?

कहाँ पुलक का स्पर्श सुकोमल,
कहाँ अमृत-रस का संचालन ?
कहाँ हृदय के जलते मरु में
सावन—घन—जलधारा—प्लावन ?

कहाँ स्रोत अक्षय सुहास का,
कहाँ उत्स स्वर्णिम उमंग का ?

मुझे डुबो दे सिन्धु सदृश जो, ऐसा वह उल्लास कहाँ है ?
मेरा भाव-विहग उड़ पाये, ऐसा वह आकाश कहाँ है ?

लौट—लौट जाता मेरे
दरवाजे से जैसे वसन्त-क्षण,
लौट-लौट जाता मेरी
खिड़की से जैसे मलय-समीरण

लौट—लौट जाती मेरे
सम्मुख से किरणों की रंगीनी,

फूल खिले हों, गन्ध-रंग हों, ऐसा वह इतिहास कहाँ है ?
मेरा भाव-विहग उड़ पाये, ऐसा वह आकाश कहाँ है ?

५ । ४ । १९५३

३

कण-कण में है मूर्त्ति तुम्हारी, किरण-किरण में हास तुम्हारा !

डोल रहा मलयानिल वन-वन
मृदु श्वासों का सम्बल लेकर,
कूक रही कोयल मृदु ध्वनि में
लेकर एक तुम्हारा मृदु स्वर,

फूल खिल रहे हैं वन-वन में
लेकर रूप तुम्हारा मधुमय,

मूर्त्तिमान मधुमास : एक अद्‌भुत सौन्दर्य-विलास तुम्हारा !
कण-कण में है मूर्त्ति तुम्हारी, किरण-किरण में हास तुम्हारा !

—६—

ये ग्रह, ये नक्षत्र, नील नभ
के ये शत-शत स्वर्णिम दीपक,
दिग्वधुओं की मीठी चितवन,
श्री-शोभा की प्रतिमा अपलक,

इन नीलाभ शैल-शिखरों से
झर-झर झरते ज्योत्स्ना-निर्झर,

यह अनन्त आकाश स्नेहमय सुन्दर स्वप्न-निवास तुम्हारा !
कण-कण में है मूर्त्ति तुम्हारी, किरण-किरण में हास तुम्हारा !

सागर-गर्जन में होती
उद्घोषित नित्य तुम्हारी वाणी,
मौन स्वरों में कहते तारे
नित्य तुम्हारी मर्म-कहानी,

कण-कण करता नित्य तुम्हारी
सत्ता का नीरव निर्देशन,

संसृति के अणु-अणु में देख रहा हूँ अन्तर्वास तुम्हारा !
कण-कण में है मूर्त्ति तुम्हारी, किरण-किरण में हास तुम्हारा !

उषा तुम्हारे अमर राग की
स्वर्णिम आभा से अनुरंजित,
सन्ध्या अरुण पराग तुम्हारा
धारण कर शोभित-श्रीमंडित,

शरत्-पूर्णिमा बद्ध तुम्हारे
अक्षय ज्योतिःआलिंगन में

जग की दीपशिखा में जलता शाश्वत स्नेहिल श्वास तुम्हारा !
कण-कण में है मूर्त्ति तुम्हारी, किरण-किरण में हास तुम्हारा !

१४ । १२ । १९५२

४

मलयानिल बन छू-छू जाता उर को सुरभित श्वास किसी का !

यह मधु स्मित, फैली हो जैसे
शून्य गगन में स्निग्ध चाँदनी,
यह अपरूप रूप, बजती हो
अन्तहीन ज्यों रजत रागिनी,

यह अशेष सौन्दर्य-स्रोत, इसका
चिर उद्गम-स्थान कहाँ है ?

मुझे बहाये लिये जा रहा सागर-सा उल्लास किसी का !
मलयानिल बन छू-छू जाता उर को सुरभित श्वास किसी का !

—८—

किसकी रूप-परिधि में निशिभर
चाँद-सितारे घूमा करते ?
किस लावण्य-शिखा को आकुल
प्राण-शलभ ये चूमा करते ?

नयनों में छाया रहता-सा
किसका चिर छवि-स्वप्न विमोहन ?

उल्लासों के पुष्प खिलाता शत-शतशः मधुमास किसी का !
मलयानिल बन छू-छू जाता उर को सुरभित श्वास किसी का !

अमर वल्लरी फैल रही
यह आदिरहित-सी, अन्तरहित-सी,
उमड़ रही अक्षय रस-धारा
करती सब कुछ परिप्लावित-सी

एक स्वप्न-संगीत, गूँज से
जिसकी, रन्ध्र-रन्ध्र प्रतिघोषित,

बाँध रहा जैसे तन-मन को सम्मोहनमय पाश किसी का !
मलयानिल बन छू-छू जाता उर को सुरभित श्वास किसी का !

रोम-रोम यह आज निवेदन–
पुष्प, गीत वन्दन-स्वन कोमल,
नवल प्रीति आरती-दीप-लौ-सी
झलमल-झलमल, मृदु, उज्ज्वल,

यह समस्त अस्तित्व स्वयं ही
बनता जाता मूक-समर्पण,

चिर अमरत्व दिये जाता है मुझे अमृतमय हास किसी का !
मलयानिल बन छू-छू जाता उर को सुरभित श्वास किसी का !

२६ । १। १९५२

५

आज बरसते हैं बादलदल, मन की पीड़ा भींज रही है !

देख ताप-तृष्णा धरती की
नभ का उमड़-घुमड़ आया मन,
देख विपुल ज्वाला धरती की
नभ के भर-भर आये लोचन,

नभ के प्राणों में बादलदल :
भू की पीड़ा की परछाईं

मेघों की पाषाण-कठिन छाती भी आज पसीज रही है !
आज बरसते हैं बादलदल, मन की पीड़ा भींज रही है !

—१०—

धीरे-धीरे बरस रही हैं
अमृत-फुहारें रिमझिम-रिमझिम,
धीरे-धीरे टूट रही है
भूमि-गगन की दूरी कृत्रिम,

धीरे-धीरे गगन धर रहा
धरती के अधरों पर चुम्बन,

धरती की अवसाद-वेदना धीरे-धीरे छीज रही है!
आज बरसते हैं बादलदल, मन की पीड़ा भींज रही है!

अम्बर की बाँहों में बँधता
जाता भू का प्यासा यौवन,
भू के प्राणों में मुखरित है
अम्बर का प्रणयाकुल मधु स्वन,

भू-अम्बर मिल आज गा रहे
एक स्वप्न-संगीत मनोरम,

दूर खड़ी छाया विषाद की मन ही मन लो, खीज रही है!
आज बरसते हैं बादलदल, मन की पीड़ा भींज रही है!

बरस रहे हैं सोने के घन,
पुलकित हैं तृण, तरु, किसलय-दल
धरती के उर की सीपी में
आशाओं के मोती उज्ज्वल

कोई सृजन-चेतना जैसे
धरती का अभिषेक कर रही,

और मृत्तिका के कण में बो सुख-स्वप्नों के बीज रही है!
आज बरसते हैं बादलदल, मन की पीड़ा भींज रही है।
९। ७। १९५२

६

यह कैसा है बन्ध कि जिसमें हम दोनों का हृदय बंधा है ?

प्यार यहाँ खिलता शतदल-सा,
सुरभि उड़ा करती कण-कण में;
गूँजा करता गीत मनोरम
रेणु-रेणु में, भूमि–गगन में,

लेकर इसकी स्वर्णिम आभा
ऊषा की किरणें अनुरंजित

कैसा है यह छन्द कि जिसमें हम दोनों का हृदय बँधा है ?
यह कैसा है बन्ध कि जिसमें हम दोनों का हृदय बँधा है ?

गाते-गाते थके गुणीगण,
लेकिन जिसका नहीं शेष है,
शिल्पकार का शिल्प अधूरा
मिला न इसको शिल्प-वेश है,

भाष्यकार की भाषा कुंठित,
हो न सकी निश्चित परिभाषा

यह कैसा आनन्द कि जिसमें हम दोनों का हृदय बँधा है ?
यह कैसा है बन्ध कि जिसमें हम दोनों का हृदय बँधा है ?

जिसका एक स्पर्श ला देता
भुवन-भुवन में मलय-पवन-सा,
जिसका एक स्पर्श ला देता
पतझड़ में वसन्त नूतन–सा

जिसका एक स्पर्श ला देता
पुलक, प्रहर्ष, प्राणसंजीवन,

कैसा यह मधुस्पन्द कि जिसमें हम दोनों का हृदय बँधा है ?
यह कैसा है बन्ध कि जिसमें हम दोनों का हृदय बँधा है ?

मत पूछो कितना असीम सुख
इस सागर के अवगाहन में,
कितनी दिव्य मधुरता आई
निखर हमारे तन में, मन में,

संसृति के सारे मृण्मय कण
लगते मुक्तामय, कंचनमय

कैसा यह मकरन्द कि जिसमें हम दोनों का हृदय बँधा है ?
यह कैसा है बन्ध कि जिसमें हम दोनों का हृदय बँधा है ?

७।१२।१९५२

७

बीन बज रही कैसी ,जिसकी मौन रागिनी मै सुनता हूं ?

मेघों के छाया-चित्रों-सी
किसकी छवि घिर-घिर आती है ?
किसकी स्वप्न-तरी नयनों की
सरिता में तिर-तिर आती है ?

किसके पद की पायल से
निर्गत होता संगीत सुकोमल ?

समझ न पाता भाव-अर्थ पर पागल होकर सिर धुनता हूँ !
बीन बज रही कैसी, जिसकी मौन रागिनी मै सुनता हूँ ?

—१४—

रजनी के नीरव प्रहरों में
कौन भेजती मौन निमंत्रण ?
बाँध लिया करता है मुझको
किसके आश्लेषों का बन्धन ?

कौन भाल पर मेरे अंकित
करती अपना मधुमय चुम्बन ?

किसका स्वप्न-जाल मे अपने शब्दो के द्वारा बुनता हूँ ?
बीन बज रही कैसी, जिसकी मौन रागिनी म सुनता हूँ ?

रजत पूर्णिमा-सी फैली—
फैली रहती किसकी रूपाभा ?
डूबी-डूबी रहती जिसके
फेनिल सागर मे उर-द्वाभा !

मेरे मन का मसृण सुमन
छू देती कोई सूक्ष्म किरण से,

दीख न पडती मूर्त्ति, किन्तु मे आतुर मन-ही-मन गुनता हूँ !
बीन बज रही कैसी, जिसकी मौन रागिनी मै सुनता हूँ !

वह उदार कैसी, जो करती
राशि-राशि रत्नों का वर्षण ?
वह उदार कैसी, जो करती
विपुल-विपुल वैभव का वितरण ?

किसका दान महत् इतना,
जिसकी तुलना में भू-श्री फीकी ?

किसके दिये हुए फूलों के मैं मुक्ता-कचन चुनता हूँ ?
बीन बज रही कैसी, जिसकी मौन रागिनी मै सुनता हूँ ?

१४ । १२ । १९५२

८

मेरी पूजा, मेरी अर्चा एक तुम्हीं में परिणति पाती !

मैं अनुकूल न जग के,
कुछ अनुकूल न मेरे जग की धारा,
जग का हर्षोल्लास हाय,
मेरे इन प्राणों की चिर कारा,

जग का ज्योति-हास भरता
मेरे अन्तर में तिमिर अपरिमित,

मेरी आशा जग-भाषा में कोरी मृग-तृष्णा कहलाती !
मेरी पूजा, मेरी अर्चा एक तुम्हीं में परिणति पाती !

निखिल जगत् के जो वरदान,
वही मुझको अभिशाप बने हैं,
निखिल जगत् के पुण्य-पुंज जो,
वही मुझे अब पाप बने हैं,

निखिल जगत् जिस स्थल पर सार्थक,
उसी जगह मैं पूर्ण निरर्थक,

जग की चरम पूर्णता मेरी चरम रिक्तता बनकर आती !
मेरी पूजा, मेरी अर्चा एक तुम्हीं में परिणति पाती !

कौन तुम्हारे सिवा समझ
पायेगा इन गीतों का आशय ?
कौन तुम्हारे सिवा जान
पायेगा इन प्राणों का परिचय ?

कौन तुम्हारे सिवा अर्थ
समझेगा इन विह्वल छन्दों का ?

मेरी वाणी जग के हित निष्फल प्रलाप बनकर रह जाती !
मेरी पूजा, मेरी अर्चा एक तुम्हीं में परिणति पाती !

जाऊँ कहाँ ? एक ही पथ है,
अन्य सभी पथ रुँधे हुए हैं,
एक परिधि-रेखा में मेरे
चरण-युगल ये बँधे हुए हैं,

एक मूर्त्ति मानस के सम्मुख,
एक ज्योति नयनों के आगे,

एक गीत ही मेरे जीवन की चेतना निरन्तर गाती !
मेरी पूजा, मेरी अर्चा एक तुम्हीं में परिणति पाती !

८ । ५ । १९५३

६

मुझे विरागी किए जा रहा एकमात्र अनुराग तुम्हारा !

मेरा क्या सम्बन्ध जगत् से
ऊर्ध्व उठा जाता हूँ मैं कुछ,
काट भूमि का पाश, गगन की
ओर झुका जाता हूँ मैं कुछ,

जग के नियम-निषेधों से मैं
आज मुक्त-सा और विमुख-सा,

मुझे विरागी किए जा रहा एकमात्र अनुराग तुम्हारा !
मुझे विरागी किए जा रहा एकमात्र अनुराग तुम्हारा !

जग के इन हँसते फूलों म
मेरा मन न तनिक रमता है,
इन फूलों के इगित पर
मेरा गति-क्रम न तनिक थमता है,

मेरा रथी न रुकता किंचित्
जग के इन पुष्पल कुंजों में,

मेरे मधुकर को भाता है केवल पद्म-पराग तुम्हारा !
मुझे विरागी किए जा रहा एकमात्र अनुराग तुम्हारा !

जितनी सुखकर प्रीति तुम्हारी,
उतनी कोई प्रीति न सुखकर;
जितनी सुखकर गीति तुम्हारी,
उतनी कोई गीति न सुखकर;

जितनी कोमल छाँह तुम्हारी,
उतनी कोई छाँह न कोमल;

मेरे मन की वीणा पर बजता है केवल राग तुम्हारा !
मुझे विरागी किए जा रहा एकमात्र अनुराग तुम्हारा !

रजनी मे करता हूँ पूजन,
दिनमे करता हूँ आराधन,
आठों याम किया करता हूँ
प्राण, तुम्हारा वन्दन-चिन्तन,

तुमने स्वप्नों की कितनी
मादकता भर दी है प्राणों में !

मेरे स्तर-स्तर मे जलता विद्युत्-सा रूप-सुहाग तुम्हारा !
मुझे विरागी किए जा रहा एकमात्र अनुराग तुम्हारा !

१४। १२। १९५२

१०

किसकी सुधि के सौरभ से मेरा जीवन-शतदल सुरभित है ?

किसका सुन्दर स्वप्न न जाने
नयनों का शृंगार बन गया ?
किसका मोहक रूप न जाने
प्रीति-मधुर झंकार बन गया ?

किसका चिर छवि-पाश
इन्द्रधनु-सा अंकित प्राणों के नभ पर ?

किसकी सुमधुर हास-उषा से क्षितिज मर्म का अनुरंजित है ?
किसकी सुधि के सौरभ से मेरा जीवन-शतदल सुरभित है ?

किसने जीवन की वंशी में
भर दी मंजुल मुग्ध रागिनी ?
किसने कर दी अमा-निशा यह
ज्योति-निमज्जित शुभ्र यामिनी ?

किसने आम्र-कुंज में जीवन के
भर दी नव कोकिल की ध्वनि ?

किसके मलय-श्वास-स्पन्दन से अन्तर-वन चिर आलिंगित है ?
किसकी सुधि के सौरभ से मेरा जीवन-शतदल सुरभित है ?

इसी प्रकार बीत जायें
निर्द्वन्द्व निरंकुश कल्प-कल्प भी,
इसी प्रकार बीत जाये
उल्लास-वेदना विपुल-अल्प भी,

इसी प्रकार बीत जायें
कितने वत्सर, कितने मन्वन्तर !

किसका स्नेह अमृत-वल्लरी सदृश मानस पर आच्छादित है ?
किसकी सुधि के सौरभ से मेरा जीवन-शतदल सुरभित है ?

किसने मेरे मन-मन्दिर में
नवल स्नेहमय दीप जलाया ?
किसने नवल विभा से मेरे
गहन तिमिर का द्वार सजाया ?

किसने कर दी चिर निर्धूम
अचंचल, उज्ज्वल, शिखा प्रतिष्ठित ?

किसकी अन्तःशोभा से सारा अस्तित्व समुद्भासित है ?
किसकी सुधि के सौरभ से मेरा जीवन-शतदल सुरभित है ?

२ । २ । १९५३

११

प्रतिपल राग जगाता मेरा, पर तू तो निस्पन्द पड़ी है !

तू पत्थर है जो न पिघलता
कभी स्वरों के संघातों से,
तू पत्थर है जो न सिहरता
कभी विनय के जलजातों से,

तू पत्थर है जो न कभी
परिविगलित होता किसी भाँति भी,

यों तो जाने कब से मेरी स्वर की सुरसरिता उमड़ी है !
प्रतिपल राग जगाता मेरा, पर तू तो निस्पन्द पड़ी है !

युग-युग के मेरे सारे
साधन-पूजन जैसे निष्फल--से,
युग-युग के सारे आराधन-
चिन्तन जैसे पूर्ण विफल-से,

युग-युग की मेरी भिक्षा की
झोली जैसे अवमानित-सी,

यो तो हृदय विनत है अब भी आँखे मेरी नीरभरी ह !
प्रतिपल राग जगाता मेरा, पर तू तो निस्पन्द पडी है !

जितना ही निष्ठुर उर तेरा
उतना ही मेरा मृदु आग्रह,
जितना ही निष्ठुर मन तेरा
उतना ही कोमल वन्दन यह,

जितना ही निष्कम्प चन्द्रमा
उतना ही चचल सागर-उर,

यो तो कितनी मनुहारो की समुच्छ्वसित छाया गहरी है !
प्रतिपल राग जगाता मेरा, पर तू तो निस्पन्द पडी है !

यह विरागमय तथा रागमय
द्वन्द्व चलेगा कब तक बोलो ?
झझा मे निर्धूम साधना–
दीप जलेगा कब तक बोलो ?

ओ पाषाणी प्रतिमे ! कब
खोलोगी करुणावर्षी लोचन ?–

ग्रहण करोगी अर्घ्य-निवेदन कहकर––"यह आनन्द-घड़ी है !"
प्रतिपल राग जगाता मेरा, पर तू तो निस्पन्द पडी है !

२१ । १२ । १९५२

१२

मेरे स्वप्न सजीव बनें, यदि तुम पलकों में प्रेमाश्रय दो !

मेरे स्वर-संधान सभी
मुझको ही लगते अर्थहीन-से,
मेरे शब्दों के वैभव सब
लगते मुझको परम दीन-से,

मेरा भाव-विहंगम लगता
पक्षरहित, असमर्थ, विवश-सा,

मेरे गान सजीव बनें, यदि तुम अपनी सम्मोहक लय दो !
मेरे स्वप्न सजीव बनें, यदि तुम पलकों में प्रेमाश्रय दो !

यह समस्त भूमडल मुझको
लगता जैसे पूर्ण अपरिचित,
कोई लघुतम रेखा भी न
यहाँ जानी-पहचानी किंचित्,

दिग्दिगन्त लगता है जैसे
घन रहस्य-पट से आच्छादित,

मेरा मन आश्वस्त बने, यदि तुम अपना मधुमय परिचय दो !
मेरे स्वप्न सजीव बने, यदि तुम पलको मे प्रेमाश्रय दो !

चारो ओर भयानक तम का
अतल उदधि यह, लो, उमडा है,
चारो ओर भयानकता का
लौह-पाश जैसे जकडा है,

चारो ओर दृष्टि-पथ पर है
धुँधलेपन की सान्द्र शून्यता

मेरा तिमिर बने ज्योतित, यदि एक किरण-कण ज्योतिर्मय दो !
मेरे स्वप्न सजीव बने यदि तुम पलको मे प्रेमाश्रय दो !

सो जाऊँ म, यदि तुम मुझको
निद्रा-पथ से कभी पुकारो,
खो जाऊँ मै, यदि तुम मुझको
स्नेह-नयन से कभी निहारो,

कर दँ म प्रस्थान, मिले यदि
मुझे तुम्हारा मौन निमत्रण,

हो जाऊँ मै लीन सदा को, यदि तुम मुझको प्रेम-प्रलय दो !
मेरे स्वप्न सजीव बने, यदि तुम पलकों मे प्रेमाश्रय दो !

१४।६।१९५३

१३

मेरे बन्ध न कभी खुलेंगे, यदि तुम स्वयं न आकर खोलो !

देखो , यह कैसी विराट् है
कुंठाओं की प्रस्तर - कारा !
बन्द किये है यह जैसे
मेरे जीवन की चंचल धारा,

इस पाषाणी घेरे में
अवरुद्ध चेतना विकल सिसकती,

मेरे बन्ध न कभी खुलेंगे, यदि तुम स्वयं न आकर खोलो !
मेरे बन्ध न कभी खुलेंगे, यदि तुम स्वयं न आकर खोलो !

भावों की देखो अनन्त
यह विस्तृत भूमि पड़ी है सम्मुख,
मन-दिगन्त तक फैल रहे हैं
धूलि-सदृश ये कितने सुख-दुख !

लेकिन वाणी है विमूक-सी
स्पन्दहीन-सी, बद्ध, विवश-सी,

मेरे बोल न कभी खुलेंगे, यदि तुम स्वयं न आकर बोलो !
मेरे बन्ध न कभी खुलेंगे, यदि तुम स्वयं न आकर खोलो !

स्याही स्वयं सूख जाती है
लेकिन होती कथा न पूरी,
अक्षर बाँध न पाते पूरी-पूरी,
यह कैसी मजबूरी ?

प्राणहीन कोरे कागज,
अनुभूतिहीन ये काले अक्षर,

मेरा दर्द न कभी तुलेगा, यदि तुम स्वयं न आकर तोलो !
मेरे बन्ध न कभी खुलेंगे, यदि तुम स्वयं न आकर खोलो !

करता तो हूँ यत्न, न मिट
पाता लेकिन मन का अँधियाला,
बार-बार छा जाता दृग के
सम्मुख परदा काला-काला,

मन तो ज्योतिष्कामी, लेकिन
तन है धँसा तिमिर-सागर में,

मंगल-द्वार न कभी खुलेगा, यदि तुम स्वयं न आकर खोलो !
मेरे बन्ध न कभी खुलेंगे, यदि तुम स्वयं न आकर खोलो !

१४

यह मलयानिल का झोंका है, या कि तुम्हारा श्वास-समीरण ?

पुष्प खिले आते हैं शतशः
उल्लासों के निमिष-निमिष पर,
निर्निमेष नयनों में खिचता
आता है छवि-चित्र मनोहर,

डोली यह काया, या ली है
नव वसन्तश्री ने अँगड़ाई ?

स्वप्न-आवरण है यह सम्मुख, या कि सत्य का स्वर्ण संचरण ?
यह मलयानिल का झोंका है, या कि तुम्हारा श्वास-समीरण ?

यह रव—कूक उठी हो जैसे
वनकुंजों में मधुमय कोयल,
यह रव—गूँज उठी हो जैसे
प्रकृति-परी की वीणा कोमल,

यह रव—जैसे हुआ झंकरित
हो सुषमा का तार मनोहर,

यह रव—जैसे छाता जाता मन-प्राणों पर बन सम्मोहन !
यह मलयानिल का झोंका है, या कि तुम्हारा श्वास-समीरण ?

यह इतना आकर्षण—— जैसे
रस का चिर सागर उमड़ा हो,
यह इतना आनन्द, कि जैसे
सुख का निर्झर फूट पड़ा हो,

यह इतना मधुपाश, कि जैसे
बँधा हुआ हो अग-जग सारा,

कल्प-कल्प का सौख्य समेटे एक निमिष का ज्यों मधु दर्शन !
यह मलयानिल का झोंका है, या कि तुम्हारा श्वास-समीरण ?

रोम-रोम मेरे गायक ह
प्रिये, तुम्हारी दिव्य कथा के;
मेरे प्राण शलभ है प्रेयसि,
मुग्ध तुम्हारी रूप-शिखा के;

मेरे श्वास-स्वरों में शिंजित
शुभे, स्वर्ग-संगीत सुकोमल,

मेरा हृदय बना जाता है आराधनमय स्नेह-समर्पण !
यह मलयानिल का झोंका है, या कि तुम्हारा श्वास-समीरण ?

७ । १२ । १९५३

१५

मेरे मन की उमड़-घुमड़ ही, लो, अब गीत बनी जाती है !

शूल बन रहे फूल, कि जिनसे
संसृति का कण-कण है सुरभित,
अश्रु बन रहे मधु-कण, जिनसे
संसृति का मधुकर आनन्दित,

यह उच्छ्वास भर रहा जग के
मानस में उल्लास-तरंगें,

मेरे मन की दुर्दम ज्वाला लो, नवनीत बनी जाती है !
मेरे मन की उमड़-घुमड़ ही, लो, अब गीत बनी जाती है !

इन गीतों में, इन छन्दों में
मत पूछो क्या बजता रहता,
भावों की गति-धारा पर
कितना-कितना अभाव है बहता,

शब्दों की इस चहलपहल में
मेरा सूनापन आन्दोलित,

व्यथा भारती-मन्दिर में आरती पुनीत बनी जाती है !
मेरे मन की उमड़-घुमड़ ही, लो, अब गीत बनी जाती है !

एक स्पर्श नैराश्य-नयन का,
बज उठता है तार हृदय का !
एक स्पर्श पतझार-पवन का,
बज उठता है झाड़ हृदय का !

थोड़ा-सा आघात, और
होने लगता संधान स्वरों का,

मेरे मन की मर्मवेदना लो, संगीत बनी जाती है !
मेरे मन की उमड़-घुमड़ ही, लो, अब गीत बनी जाती है !

मिट्टी, तुम्हे और क्या दूँ मै,
देने को क्या शेष बचा है ?
ये स्वर, ये अभाव, सब कुछ लो
जिनको तुमने स्वयं रचा है !

मै हो जाऊँ भार-मुक्त
लो, ले लो न्यास सभी लौटाकर,

सर्वार्पण-भावना आज उत्सर्ग-विनीत बनी जाती है !
मेरे मन की उमड़-घुमड़ ही, लो, अब गीत बनी जाती है !

२६ । ५ । १९५३

१६

स्वप्न तुम्हारा क्यों यों मेरे प्राणों को उद्वेलित करता ?

रात तुम्हारे स्वप्नों के
खिलते हैं शत-शत पुष्प मनोहर,
दिन में भी उड़ता रहता है
स्वर्णिम स्वप्न-पराग मृदुलतर,

अहोरात्र प्रतिपल-प्रतिक्षण यह
कैसा स्वप्नों का सम्मोहन ?

स्वप्न तुम्हारा क्यों यों मेरे प्राणों को आन्दोलित करता ?
स्वप्न तुम्हारा क्यों यों मेरे प्राणों को उद्वेलित करता ?

एक किरण-सा प्रतनु तुम्हारा
स्मित विकसित करता उर-अन्तर,
दीपशिखा-सा रूप तुम्हारा
जलता मेरे मन के अन्दर,

मिट जाता तम-तोम, शून्य
मन्दिर होता सहसा ज्योतिःस्मित,

प्राण, तुम्हारा चाँद हृदय को सागर-सा हिल्लोलित करता !
स्वप्न तुम्हारा क्यों यों मेरे प्राणों को उद्वेलित करता ?

स्वप्न-रागिनी में भूला तन,
स्वप्न-रागिनी मे भूला मन,
स्वप्न-रागिनी में खोया—
खोया-सा यह सारा जग-जीवन !

स्नेहमयी, तुम बजतीं मेरे
मन-वीणा-तारों पर निशि-दिन,

एक अनास्वादित सुख जैसे अन्तर को आप्लावित करता !
स्वप्न तुम्हारा क्यों यों मेरे प्राणों को उद्वेलित करता ?

यह असीम आनन्द-राग ज्यों
मेरे स्वर पर सधा हुआ है,
सकल सृष्टि - सौन्दर्य - सार
मेरी सीमा से बँधा हुआ है,

मैं अनादि हूं पुरुष पुरातन
तुम अनादि हो प्रकृति सनातन,

लगता जैसे युग-युग का नाता स्मृतियाँ सब संचित करता !
स्वप्न तुम्हारा क्यों यों मेरे प्राणों को उद्वेलित करता ?

८।१२।५२

१७

आज चाँदनी भर आई है तन में, मन में, और हृदय में !

पा करके लघु स्नेह
घटाएं दूर हुईं जैसे अम्बर से,
बूंद-बूँद चू पड़ी अचानक
जैसे स्निग्ध अमृत-निर्झर से,

मधु-चितवन का स्पर्श
उगा जैसे पूर्णेन्दु क्षितिज पर सहसा,

आज चाँदनी भर आई है तन में, मन में, और हृन्य में !
आज चाँदनी भर आई है तन में, मन में, और हृदय सें !

अचल शिला हो गई द्रवित, लो,
भग्न हो गई घन नीरवता,
आज हो उठी मुखरित जैसे
अन्तस्तल की मौन शून्यता,

कुंठा की प्रस्तर-प्राचीरें
गल-गल कर सगीत बन गईं,

आज रागिनी भर आई है तन में, मन मे, और हृदय में !
आज चाँदनी भर आई है तन मे, मन मे, और हृदय मे !

खर निदाघ की भीषण ज्वाला
जलती रही निरन्तर शिर पर,
अग्नि-शरों की अविरल वर्षा
करता रहा प्रचंड दिवाकर,

लेकिन अब दिन की विनाशमय
लीला सब सो गई अचानक,

और, यामिनी भर आई है तन में, मन मे, और हृदय में !
आज चाँदनी भर आई है तन मे, मन मे, और हृदय मे !

फूल खिले आते है जैस
मेरे इस उजड़े उपवन मे,
मलयानिल मुस्काता आता
जैसे इस पतझड़-प्रागण मे,

आँखों को कर रही मुग्ध
जैसे मधुऋतु की कोई सुषमा,

आज मादिनी भर आई है तन में, मन मे, और हृदय मे !
आज चाँदनी भर आई है तन मे, मन मे, और हृदय मे !
२२ । ६ । १९५३

१८

आओ तो इस शून्य समय में, देखो कितनी रात विकल है !

निज अरुणांगुलियों से छू दो
बजने लगें तार ये मृदुतर,
युग-युग की रवहीन भूमि में
जागे मधुमय राग अनश्वर,

छा जाये अम्लान अमृत की
धारा जैसी शुभ्र रागिनी,

एक स्पर्श के लिए युगों से प्राण, वीण का गात विकल है !
आओ तो इस शून्य समय में, देखो कितनी रात विकल है !

अपने श्वासों के सौरभ से
भरो प्राणदायक मधु-स्पन्दन,
अपने श्वासों के सौरभ से
भरो अपरिमित मादक निस्वन,

अपने स्वर की सुरभि-लहर से
भरो सुरभिमय प्रेमल गुंजन,

एक सुरभि के लिए युगों से डोल रहा यह वात विकल है!
आओ तो इस शून्य समय में, देखो कितनी रात विकल है!

होने दो सूने दृग-पट को
नूतन रंग-चित्र से सज्जित,
आओ धर साकार रूप
ओ मेरे स्वप्न-विलासी, सस्मित,

स्मित के इन्द्रधनुष से होने दो
सब दिगदिगन्त को शोभित,

देखो तो युग-युग से मेरी आँसू की बरसात विकल है!
आओ तो इस शून्य समय में, देखो कितनी रात विकल है!

उतरो अरुणाभा लेकर तुम
उद्भासित हो उर-उदयाचल,
नई चेतना उद्बोधित हो
फैले दिशि-दिशि में नव परिमल,

अन्ध-बन्ध टूटें निष्ठुरतम
जागे मुक्ति-प्रकाश मधुरतम,

एक किरण के लिए युगों से जीवन का जलजात विकल है!
आओ तो इस शून्य समय में, देखो कितनी रात विकल है!

९।१२।१९५?

१६

रात सुनहला सपना खिलता, प्रात उसे झुठला देता है !

रात कल्पनाओं का भरती
रहती है अशेष नव परिमल,
रात कामनाओं का लाती
रहती है प्रिय पद-रव कोमल,

रात हृदय की सरिता में
कुसुमित करती सुषमा का शतदल,

लेकिन, प्रात उसे रजनीगन्धा-सा ही मुरझा देता है !
रात सुनहला सपना खिलता, प्रात उसे झुठला देता है !

रात उड़ाती रहती अगणित
रंग-विरंगे शलभ मनोहर,
रात बाँध देती अनन्त
सौन्दर्य-पाश में मुग्ध चराचर,

रात रूप की अद्भुत दीपशिखा
करती रहती दीपित--सी,

लेकिन अपने निठुर करों से उसको प्रात बुझा देता है!
रात सुनहला सपना खिलता, प्रात उसे झुठला देता है!

रात शान्ति का निरवच्छिन्न
साम्राज्य अखंड अगम रख पाती,
रात शान्ति का मौन-मौन-सा
अक्षय सुधा–स्रोत लहराती,

रात अनेकों मानस-पट पर
चित्र मनोरम अंकित करती,

पर समस्त रेखा-रंगों को जैसे प्रात मिटा देता है!
रात सुनहला सपना खिलता, प्रात उसे झुठला देता है!

रात सकल सौन्दर्य-जागरण,
प्रात सकल सौन्दर्य-- विसर्जन,
रात सकल सौन्दर्य-संचरण,
प्रात शयन, घन तिमिर-आवरण,

रात प्रात में कितना अन्तर?
रात जगाती जिस संसृति को—

उसे ध्वस्त कर प्रात चिता-शय्या पर नित्य सुला देता है!
रात सुनहला सपना खिलता, प्रात उसे झुठला देता है!

११।१२ १९५२

२०

मेरा तिमिर भरा मन तुम से दिव्य किरण का हास माँगता !

बँधे हुए–से पक्ष युगल ये
मन में कुछ उत्साह नहीं है,
अन्तस्तल में नव उमंग का
जैसे रंच प्रवाह नहीं है,

जन्मजात उड़ने की आकांक्षा
जैसे बन्दिनी विवश-सी,

मेरा विकल विहग यह तुम से नया मुक्ति-आकाश माँगता !
मेरा तिमिर भरा मन तुम से दिव्य किरण का हास माँगता !

कोई भी न यहाँ खिलता है
रूप-रंगमय फूल सुकोमल,
यहाँ न भरता कभी अनिल के
श्वासों में सम्मोहक परिमल,

यहाँ न गन्ध-अन्ध-आकुल
मधुकरदल भरते मादक गुंजन,

मेरा श्रीविहीन उपवन यह तुम से नव मधुमास माँगता !
मेरा तिमिर भरा मन तुम से दिव्य किरण का हास माँगता !

लौट-लौट जाती है प्रति दिन
ऊषा होकर विफल-मनोरथ,
लौट-लौट जाता है थककर
प्रतिदिन प्रखर दिवाकर का रथ,

इन्दु श्रान्त होता युग-युग से
किन्तु न खिचती रश्मि-रेख भी,

मेरा तिमिर भरा नभ तुमसे उज्ज्वल रजत प्रकाश माँगता !
मेरा तिमिर भरा मन तुम से दिव्य किरण का हास माँगता !

जग के अगणित बन्ध न मुझको
बाँध कभी पाते बन्धन में,
जग की सुषमा-बाँह न मुझको
भर पाती निज आलिंगन में,

जग के आकर्षण न कभी
कर पाते आँखों में सम्मोहन,

मेरा उड़ता-सा मन तुम से नये प्रेम का पाश माँगता !
मेरा तिमिर भरा मन तुम से दिव्य किरण का हास माँगता !

१५ । ६ । १९५३

२१

पीर नहीं यह, मेरे प्राणों में पलती है प्रीति तुम्हारी !

अश्रु नहीं मकरन्द भरा है
मेरे नलिन–नयन में कोमल,
ओस नहीं यह तो मोती है
दूर्वादल पर झलमल उज्ज्वल,

आह नहीं यह सजल रंग है
मेरी इन्द्रधनुष-चाहों का,

पीर नहीं यह, मेरे प्राणों में पलती है प्रीति तुम्हारी !
पीर नहीं यह, मेरे प्राणों में पलती है प्रीति तुम्हारी !

खोकर सब विश्वास जगत् मेरा
लो, मुझसे दूर हो गया,
छलना का प्याला जो कर में था
वह क्षण में चूर हो गया,

मेरी आँखों का भ्रम--विभ्रम
स्वप्न समान विलीन हो गया,

जाग उठी अन्तर्मानस में एक अखंड प्रतीति तुम्हारी !
पीर नही यह, मेरे प्राणों में पलती है प्रीति तुम्हारी !

नास्ति नही, यह अस्ति; दिगन्तों
का यह व्यापक शून्य बोलता,
नही अव्याप्ति, व्याप्ति यह वांछित;
कोई मुग्ध रहस्य खोलता,

नही अभाव, भाव यह :
दीपशिखा-सा शाश्वत जल-जल उठता,

इस अनन्त नीरवता में मुखरित है मंजुल गीति तुम्हारी !
पीर नही यह, मेरे प्राणों में पलती है प्रीति तुम्हारी !

तुम पीड़ाओं के माध्यम से
ही बरसाती प्यार मनोहर,
तुम शूलों के माध्यम से ही
बिखरातीं मृदु फूल विहंसकर,

तुम अभिशापों के माध्यम से
ही देती वरदान अलक्षित,

ऐसी ही है नीति तुम्हारी, ऐसी ही है रीति तुम्हारी !
पीर नहीं यह, मेरे प्राणों में पलती है प्रीति तुम्हारी !

१७।१२।१९५३

२२

मेरे रन्ध्र-रन्ध्र में बजती रजत शुभ्र रागिनी तुम्हारी!

उमड़ रही पल-पल स्वर-सरिता
सन्तत स्नेह-सुराग-तरंगित,
रेणु-रेणु आप्लावित, कण-कण
ध्वनि-शिंजित आनन्द-प्रहर्षित,

दिग्दिगन्त में मुखरित जैसे
नव वसन्त की मर्मर ध्वनि-सी,

मेरे रन्ध्र-रन्ध्र में बजती रजत शुभ्र रागिनी तुम्हारी!
मेरे रन्ध्र-रन्ध्र में बजती रजत शुभ्र रागिनी तुम्हारी!

मेरे मन के अन्धकार को
धो देता है हास तुम्हारा,
मेरे मन के कानन को
कुसुमित करता मधुमास तुम्हारा,

मेरे मन के मरु को करता
नन्दन सुरभित श्वास-समीरण,

मेरी अमा-निशा में निखरी मंगलमय चाँदनी तुम्हारी !
मेरे रन्ध्र-रन्ध्र में बजती रजत शुभ्र रागिनी तुम्हारी !

मेरे रोम-रोम में पुलकित-
स्पन्दित जैसे मलय-समीरण,
मेरे दिशा-व्योम में जागृत-
सस्मित जैसे उषा–किरण–कण,

मेरे अन्तरिक्ष में ऊर्मिल
जैसे कोई स्वर्गंगा-सी,

मेरी पावसऋतु में जागृत प्रतिपल सुधि-दामिनी तुम्हारी !
मेरे रन्ध्र-रन्ध्र में बजती रजत शुभ्र रागिनी तुम्हारी !

नयनों में है स्वप्न-स्पर्श
कण-कण में है विस्मृति की जड़ता,
मुझे डुबो कर जैसे कोई
रस का अक्षय सिन्धु उमड़ता,

मेरी अखिल चेतना पर
छाता कोई चिर सम्मोहन-सा,

मेरे मन को घेरे रहती रूपोज्ज्वल यामिनी तुम्हारी !
मेरे रन्ध्र-रन्ध्र में बजती रजत शुभ्र रागिनी तुम्हारी !

२१। १२। १९५२

२३

तुम हो कौन ? बता दूँ, सच, तुम जन्म-जन्म की हो पहचानी !

प्रथम-प्रथम ही नहीं आज
तुम आयी हो मेरे इस घर पर,
चमक रहे हैं चरण-चिह्न
युग-युग के इस आँगन में भास्वर,

बनो न यों लजवन्ती,
लज्जा का अवगुंठन आप उठालो,

ओ अनन्त परिचिते ! बनो मत यों भोली-भाली अनजानी !
तुम हो कौन ? बता दूँ, सच, तुम जन्म-जन्म की हो पहचानी !

प्रेम-पुकार तुम्हारी : मेरा
अन्तर जन्म–जन्म से शब्दित,
स्नेहिल स्पर्श तुम्हारा : मेरा
कल्प–कल्प से मन रोमाचित,

निभृत मिलन कल्पनातीत
इस वर्त्तमान-क्षण मे भी जीवित,

मेरी आत्मा के दर्पण मे स्वर्णांकित छाया वह जानी !
तुम हो कौन ? बता दूँ, सच, तुम जन्म-जन्म की हो पहचानी !

नहीं निमिष-भर का यह परिचय,
यह परिचय युग-युग का मधुमय;
यह सम्बन्ध न निमिषमात्र का,
यह सम्बन्ध सनातन अक्षय;

यह आकर्षण नही पलक का,
यह आकर्षण जन्मान्तर का;

जन्मान्तर से रूप-शिखा पर यह दिल की दुनिया दीवानी !
तुम हो कौन ? बता दूँ, सच, तुम जन्म-जन्म की हो पहचानी !

तुम हो वह जो बजती रहती
जीवन-वीणा-तारो पर नित,
तुम हो वह जो राका-शशि-सी
हृदय-क्षितिज पर सन्तत सस्मित,

तुम हो वह जो प्राण-कमल को
रहती घेरे स्वर्ण-किरण--सी,

तुम हो छन्दमयी चिर कवि की चिर मुखरित वाणी कल्याणी !
तुम हो कौन ? बता दूँ, सच, तुम जन्म-जन्म की हो पहचानी !

२५ । १ । १९५३

२४

जलती पाकर स्नेह तुम्हारा मेरे मन की दीपशिखा यह !

कालरात्रि–सी अमा-निशा यह
जाग रही अपनी लट खोले,
चिर कृतान्त की प्रतिमा प्रतिपल
डोल रही निज घूँघट खोले,

झंझा-झोंकों का अदम्य आन्दोलन
दिशि-दिशि में उद्वेलित,

जलती फिर भी ज्योति एक निर्द्वन्द्व, निराकुल, निष्कम्पित रह !
जलती पाकर स्नेह तुम्हारा मेरे मन की दीपशिखा यह !

धूल उड़ रही है वन-वन में
प्रखर ताप से दग्ध दिशांचल,
कोकिल की काकली स्तब्ध
फूलों की धुली-पुँछी स्मिति कोमल,

ढोता-सा उपवन यह जैसे
मधुऋतु का शव स्रस्त हृदय से,

फिर भी दूर-सुदूर कही से आती चिर सुगन्ध यह मह-मह !
जलती पाकर स्नेह तुम्हारा मेरे मन की दीपशिखा यह !

सूखे सर-सरिता, नद-निर्झर,
सम्मुख विस्तृत सैकत मरु-पथ,
मृगमरीचिका छलना दुस्सह
ताप-प्रहार भयंकर अश्लथ,

शेष श्वास-सा पथिक, क्लान्ति से
जर्जर - मानस, जर्जर - अन्तर,

फिर भी आती दूर कहीं से कोई जीवन-धारा बह-बह !
जलती पाकर स्नेह तुम्हारा मेरे मन की दीपशिखा यह !

किसने बोये अमृत-बीज
जो मरण-भूमि में उग-उग आते ?
मिटते रहते, बनते रहते
मिटते-मिटते बन-बन जाते !

किसका शुभ आशीष शीश पर
धर कर जग आश्वस्त अटल-सा?

किसकी अमर कहानी संसृति का कण-कण जाता है कह-कह !
जलती पाकर स्नेह तुम्हारा मेरे मन की दीपशिखा यह !

१७। १२। १९५२

२५

कोई दर्द हृदय के सागर को जैसे मथ-मथ देता है !

अश्रु मेघ-से उठते, नयनों
के नभ से फिर झर-झर पड़ते,
पतझड़ के सूखे पत्तों-से
फिर अगणित अरमान तड़पते,

कर लेती आच्छन्न प्राण को
सन्ध्या की ज्यों मौन उदासी,

कोई दर्द हृदय के सागर को जैसे मथ-मथ देता है !
कोई दर्द हृदय के सागर को जैस मथ मथ देता है !

यदा-कदा जो इन्द्रधनुष की
डोर पकड़ अरमान मचलते,
मुक्त भाव से मुक्त गगन मे
मुक्त विहगम सदृश विहरते,

यदा-कदा उल्लास-पाश
जो कस लेता निज आलिंगन में,

कोई शापभरा पल सहसा बन्धन को कर श्लथ देता है !
कोई दर्द हृदय के सागर को जैसे मथ-मथ देता है !

कभी भूल से दिख भी जाती
एक निमिष को ज्योति समुज्ज्वल,
कभी भूल से खिल भी जाता
एक निमिष को हास-कुसुम-दल,

कभी भूल से लगता जैसे
सच होता-सा स्वर्णिम सपना,

कोई तम-अगुलि से द्रुत इंगित कर सूना पथ देता है !
कोई दर्द हृदय के सागर को जैसे मथ-मथ देता है !

कुछ उमग के दीप जला
जाता है मेरे मन के अन्दर,
कुछ आशा के फूल खिला
जाता है मन-उपवन मे सुन्दर,

कुछ उन्माद प्राण-जीवन में
भरता एक अवर्णनीय-सा,

कोई एक अकल्पित दुख भी त्यों मन को मन्मथ देता है !
कोई दर्द हृदय के सागर को जैसे मथ-मथ देता है !

२८ । ६ । १९५३

२६

बादल बरस रहे हैं, लेकिन मन का ताप नहीं मिटता है !

भीग रहा है कण-कण भू का,
भीग रहा है क्षण-क्षण भू का,
भीग रहा है रस-धारा में
प्यासा-प्यासा यौवन भू का,

भीग रहा है सकल मरुस्थल
भीग रहा है सैकत कण भी,

इस अबाध रिमझिम में भी मन का सन्ताप नहीं मिटता है !
बादल बरस रहे हैं, लेकिन मन का ताप नहीं मिटता है !

भूतल के उर की ज्वाला
हो रही शान्त, नवनीत-सुकोमल,
भूतल के उर की तृष्णा
हो रही शान्त, सौरभमय शतदल,

भूतल के श्रीहीन आस्य पर
मधुर हास्य-स्मित का मृदु दोलन,

लेकिन मेरे अन्तर का अक्षत उत्ताप नही मिटता है !
बादल बरस रहे है, लेकिन मन का ताप नही मिटता है !

कितना भी मै यत्न करूँ,
पर होती कब अनुकूल नियति है ?
सिवा शूल के मुझे स्वप्न मे
भी कब देती फूल नियति है ?

मेरी सब पूजाओं को
कर देती पल मे धूल नियति है,

करता तो हूँ यत्न, किन्तु युग-युग का शाप नही मिटता है!
बादल बरस रहे है, लेकिन मन का ताप नही मिटता है !

ज्वाल बँध रही है सीमा से,
भाप उठ रही लेकिन ऊपर,
फिर नयनों के पथ से सहसा
वह पड़ती है नीचे झर-झर,

यही चिरन्तन क्रम चलता है
ज्वाल-भाप का खेल निरन्तर,

मेरे नील गगन से दुख का चिर सुरचाप नही मिटता है !
बादल बरस रहे है, लेकिन मन का ताप नही मिटता है !

२९।६।१९५

२७

मेरे गीत अधूरे, यदि तुम अपना स्वर-संधान नहीं दो !

फूल खिलें कैसे उपवन में
मलयानिल यदि बहे न किंचित्,
कोकिल कैसे कूके, मधुऋतु
यदि न विपिन में आये सस्मित,

चाँद मुस्कुराये न अगर तो
बिखरे कैसे रजत चाँदनी,

मेरे स्वप्न अधूरे, यदि तुम अपना रूप-विधान नहीं दो !
मेरे गीत अधूरे, यदि तुम अपना स्वर-संधान नहीं दो !

वीण नही निरपेक्ष : सदा
तारों पर मृदु आघात चाहिए,
प्यार नही निरपेक्ष : सदा
सम्मोहक मन की बात चाहिए,

हास नहीं निरपेक्ष : सदा
खिलने को उर-उल्लास चाहिए,

मेरे दीप बुझे-से, यदि तुम अमर स्नेह का दान नही दो !
मेरे गीत अधूरे, यदि तुम अपना स्वर-संधान नही दो !

शिल्प भले ही सुन्दरतर हो,
लेकिन वह तो चिर निःस्वर है,
प्राणरहित, अनुभूतिरहित है,
पत्थर तो आखिर पत्थर है,

कागज के रंगीन गुलाबों
की होती कीमत ही कितनी ?

मेरे सब अभियान व्यर्थ, यदि सत्य दिशा का ज्ञान नही दो !
मेरे गीत अधूरे, यदि तुम अपना स्वर-संधान नही दो !

पगु लाँघ जाता पर्वत को
मूक बोलने लगता पल में,
विस्मय क्या ? उगने लगता है
शतदल पत्थर के अंचल में,

लघुतम इंगित से बनता है
मरुथल कुसुमित नन्दन-कानन,

सूरज-चाँद बुझें, यदि तुम निज ज्योतिः श्री अम्लान नहीं दो !
मेरे गीत अधूरे, यदि तुम अपना स्वर-संधान नहीं दो !

६ । ९ । १९५३

२८

मेरी इच्छा, मेरी आकांक्षा, सब के आधार तुम्हीं हो !

चारों ओर अँधेरा है, हाँ
ज्योति तुम्ही से मिलती केवल,
किरणमयी ओ, केवल तुम से
खिलता मेरे मन का शतदल,

इस जग के मरुथल पर केवल
एक तुम्हीं शीतल छाया-वन,

मेरे सकल सुखों के, मेरे स्वप्नों के संसार तुम्हीं हो !
मेरी इच्छा, मेरी आकांक्षा, सब के आधार तुम्हीं हो !

तुम प्रसन्न हो तो प्रसन्नता
बज उठती मेरे तारों पर,
तुम विषण्ण हो तो विषण्णता
भर उठती अन्तर में द्रुततर,

नित्य तुम्हारा सुख-दुख विम्बित
होता मेरे मन-दर्पण में,

मेरे सकल स्वरों में, मेरे गीतों में झंकार तुम्हीं हो !
मेरी इच्छा, मेरी आकांक्षा, सब के आधार तुम्ही हो !

तुम मुसकाते तो वसन्त—
वैभव हँसता मेरे उपवन में,
तुम मुरझाते तो पतझड़
आता मेरे स्वप्नों के वन में,

तुम होते कुछ आर्द्र कि
आ जाती बरसात दृगों में मेरे,

मेरी गति, मेरी अवगति, सब कुछ में ही साकार तुम्हीं हो !
मेरी इच्छा, मेरी आकांक्षा, सब के आधार तुम्हीं हो !

तुम्हें छोड़कर और कहाँ खोजूँ
मैं इस जगती में आश्रय ?
तुम्हें छोड़कर कौन समझ
पायेगा रे मेरा मर्माशय ?

तुम्हें छोड़ कर कौन करेगा
मूल्यांकन मन की भाषा का ?

मेरी आशा, मेरी अभिलाषा में एकाकार तुम्हीं हो !
मेरी इच्छा, मेरी आकांक्षा, सब के आधार तुम्हीं हो !

७ । ६ । १९५३

२६

प्यार-प्रीति के सूक्ष्म तन्तु को सहज तोड़ देना क्या संभव ?

फूलों का मृदु हास, तितलियों
का उल्लास भरा मृदु नर्तन,
प्रेम-प्रणय का कुसुमित कानन
फूलों की बाँहों का बन्धन,

आकांक्षा की व्योम-पटी में
अंकित इन्द्रधनुष की छाया,

इस रंगीन स्वप्न-संसृति को सहज छोड़ देना क्या संभव ?
प्यार-प्रीति के सूक्ष्म तन्तु को सहज तोड़ देना क्या संभव ?

जो कि पराजित करते हों
निज चपल चरण से मुक्त पवन को,
जो कि नाप आते हों क्षण में
अकस्मात् ही भूमि--गगन को,

जो कि हतप्रभ करते हों
चंचलतम विद्युत्-गति-धारा को,

उन इच्छाओं के अश्वों को सहज मोड़ देना क्या संभव ?
प्यार-प्रीति के सूक्ष्म तन्तु को सहज तोड़ देना क्या संभव ?

जिस अन्तर में उठते हों
संगीत राग के रजनी--वासर,
जिस अन्तर में जगती हो
साकार राग की मूर्त्ति मनोहर,

जिस अन्तर में दीपशिखा-सा
राग सतत जगता रहता हो

एक विराग-सूत्र से उसको सहज जोड़ देना क्या संभव ?
प्यार-प्रीति के सूक्ष्म तन्तु को सहज तोड़ देना क्या संभव ?

जो होती हो प्रतिपल प्राणों
के ममता-जल से अभिषेकित,
जो होती हो अन्तर के
अर्चना-कुसुम से पूजित-अर्चित,

जो समस्त आकर्षण
आराधन-साधन की केन्द्र-विन्दु हो,

उस मोहक प्रतिमा को पल में सहज फोड़ देना क्या संभव ?
प्यार-प्रीति के सूक्ष्म तन्तु को सहज तोड़ देना क्या संभव ?

११।१।१९५३

३०

जीवन के ताने–बाने में सुख–दुख को उलझाया तुमने !

तुमने चाहा तो वसन्त का
वैभव बरसा वन-उपवन में,
तुमने चाहा तो अनुचर
मलयानिल डोला भूमि-गगन में,

तुमने चाहा तो कुंजों में
कोकिल की वंशी-ध्वनि फूटी,

नद-निर्झर, सरिता-सागर ने क्या गाया ? हाँ, गाया तुमने !
जीवन के ताने–बाने में सुख–दुख को उलझाया तुमने !

तुमने चाहा तो भू की
तृष्णा घन बन नभ में मँडराई,
तुमने चाहा तो दिशि-दिशि में
पावस की ध्वनि-प्रतिध्वनि छाई,

तुमने चाहा तो युग-युग का
ताप मिटा भू के प्राणों का,

अपनी इच्छा का अखंड साम्राज्य विराट् बसाया तुमने !
जीवन के ताने-बाने मे सुख-दुख को उलझाया तुमने !

जग का रूप भला क्या ?
तुमने चाहे जिसे बनाया, तोड़ा,
तुमने चाहे जिसे गिराया,
चाहे जिसे सँवारा, छोड़ा,

तुमने चाहे जिसको जैसा
रूप दिया औ' रग दिया है,

सब रूपों मे, सब रंगों में अपना रूप दिखाया तुमने !
जीवन के ताने-बाने मे सुख-दुख को उलझाया तुमने !

मालिक मेरे, जग की इच्छा
का क्या कुछ भी मोल नही है,
क्या नितान्त है विश्व निःस्व यह ?
क्या इसका कुछ तोल नही है ?

यदि अशक्त यह, यदि परवश यह
इतना, तो मेरे निर्माता !

क्यों अपनी निष्ठुर क्रीड़ा का कन्दुक इसे बनाया तुमने ?
जीवन के ताने-बाने में सुख-दुख को उलझाया तुमने !

१०।१२।१९५३

३१

प्रेम तुम्हारा मेरे मन का स्वर्णिम कारागार बन गया !

मधु-चिन्तन की हथकड़ियाँ हैं
मुधि-मुखरित सूनी घड़ियाँ हैं,
सुलझाने को अमर ग्रन्थियों को
सम्मुख आँसू-लड़ियाँ हैं,

पड़ी बेड़ियाँ प्राणों के
युग—पाँवों में हैं रूप-परिधि की,

प्रेम तुम्हारा मेरे मन का स्वर्णिम कारागार बन गया !
प्रेम तुम्हारा मेरे मन का स्वर्णिम कारागार बन गया !

यह अद्भुत नगरी है, इसमें
शूल–फूल में भेद नहीं है,
यह अद्भुत नगरी है, इसमें
शैल-तूल में भेद नही है,

यह अद्भुत नगरी है, इसमें
पीर-प्यार दोनों समान है,

चिर प्रहार भी जैसे मुझको मृदुल कुसुम-उपहार बन गया !
प्रेम तुम्हारा मेरे मन का स्वर्णिम कारागार बन गया !

तन की सुधि भूली रहती है
मन की सुधि भूली रहती है,
प्रिय-स्मृति की सुकुमार कमलिनी
बस, फूली–फूली रहती है,

सकल चराचर सो जाता है
विस्मृति की निद्रा-पलकों मे,

जलता रहता स्नेह–दीप, मेरा उर दीपाधार बन गया !
प्रेम तुम्हारा मेरे मन का स्वर्णिम कारागार बन गया !

चिर अदृष्ट का इंगित : बिखरी
निखरी अश्रुहासमय आभा,
कभी डूब भी गई, कभी
उग भी आई मेरी उर–द्वाभा,

रोई कभी विकल हो वर्षा,
कभी वसन्त हँसा खिलखिलकर,

इसी भाँति छाया-प्रकाशमय नित मेरा संसार बन गया !
प्रेम तुम्हारा मेरे मन का स्वर्णिम कारागार बन गया !

७ । ७ । १९५३

३२

प्रिय, वे चरण कहाँ, जिन पर अर्पित हों उर के अर्घ्य-निवेदन ?

प्राण—पथिक चलता आया है
युग-युग से मरु-पथ पर अविरल,
श्वास-दीप जलता आया है
झंझा-झोंकों में भी प्रतिपल,

मिली राह में धूप भयंकर
तन-मन जर्जर, जीवन जर्जर,

उन चरणों की छाँह कहाँ, जो परम शान्तिदायक, चिर शोभन ?
प्रिय, वे चरण कहाँ जिन पर अर्पित हों उर के अर्घ्य-निवेदन ?

चाँद-सितारे हारे सारे,
विवस्वान निष्प्रभ विह्वल-से,
कोटि-कोटि नक्षत्र म्लानमुख
अकृतकार्य, असमर्थ विफल-से,

जग के संख्यातीत दीप भी
ननमस्तक निष्फल अन्तस्तल,

उन चरणों की ज्योति कहाँ, जो ज्योतिर्मय करदे उर-प्रांगण ?
प्रिय, वे चरण कहाँ जिन पर अर्पित हों उर के अर्घ्य-निवेदन ?

प्रतिपल दुख-द्वन्द्वों के द्वारा
हृदय देवता दला गया है,
प्रतिपल राग-द्वेष के द्वारा
सहृदयता-खग छला गया है,

प्रतिपल कलुष-परिधि ने बाँधा
है निर्बन्ध विमल मानव को,

उन चरणों की सुरभि कहाँ, जो करदे प्रिय, तन-मन को पावन ?
प्रिय, वे चरण कहाँ जिन पर अर्पित हों उर के अर्घ्य-निवेदन ?

मरण-पाश मे बंधा हुआ है
जैसे यह जग-जीवन सारा,
मरघट-शय्या पर सोया-सा
जैसे सब संसार हमारा,

एक श्वास का वात कर रहा
युग-युग से कुछ अन्वेषण-सा,

उन चरणों की रणु कहाँ, जो करे चिर अमृतत्व का वर्षण ?
प्रिय, वे चरण कहाँ, जिन पर अर्पित हों उर के अर्घ्य-निवेदन ?

१२।१२।१९५३

३३

प्रेयसि, तेरी ही प्रतिध्वनि है इन गीतों-छन्दों में मुखरित !

इच्छाएँ रंगीन बनीं
तेरी ही इन्द्रधनुष-छवि छूकर,
मेरे भाव हुए रूपायित
देख–देखकर रूप मनोहर,

तेरे ही कल्पना-स्पर्श से
मेरे भाव हुए रोमांचित,

तेरी ही आलोक-प्रभा से मेरा प्रणय-शिखर आलोकित !
प्रेयसि, तेरी ही प्रतिध्वनि है इन गीतों-छन्दों में मुखरित !

यह सब तेरी ही माया है,
मैं क्या हूँ ? मैं क्या गाता हूँ ?
तू देती जो भाव, उसे मैं
भरकर अंजलि में लाता हूँ,

और, समझकर तेरी ही
श्रद्धा का नव नैवेद्य-सुमन मैं—

तेरे ही स्मृति-चरणों पर कर देता हूँ चुपचाप समर्पित !
प्रेयसि , तेरी ही प्रतिध्वनि है इन गीतों-छन्दों में मुखरित !

मेरे चाह-विहग उड़ते हैं
तेरे विस्तृत नील गगन में,
मेरे स्वप्न-सुमन खिलते हैं
तेरी छवि के छाया-वन में,

मेरे नयन-शलभ तेरी ही
दीपशिखा पर सम्मोहित-से,

मेरा प्राण—उदधि तेरी ही भाव-तरंगों से आलोड़ित !
प्रेयसि, तेरी ही प्रतिध्वनि है इन गीतों-छन्दों में मुखरित !

तू है गेय, अशेष विमल यश,
मैं ? मैं तो हूँ केवल चारण;
तू है स्मरण चिरन्तन प्रेयसि,
मैं केवल लघु स्मरण भरा मन,

तू है चरम सिद्धि मेरी
मैं तो केवल साधना सनातन,

तेरे केन्द्र-विन्दु पर ही मेरे मनकी गति-धारा केन्द्रित !
प्रेयसि, तेरी ही प्रतिध्वनि है इन गीतों-छन्दों में मुखरित !

८ । २ । १९५३

३४

यह सारा अस्तित्व विभा के सुधा-सिन्धु में स्नात, सुनिर्मल !

ज्योतिरिंगणों से क्या माँगूँ
आज भला मैं लघु प्रकाश-कण ?
मृण्मय दीपों से क्या माँगूं
क्षणभंगुर आभा का जीवन ?

मेरी आँखों के अम्बर में
उगा हुआ अक्षय ध्रुवतारा,

मेरे अन्तर में संदीपित शाश्वत ज्योतिशिखा चिर उज्ज्वल !
यह सारा अस्तित्व विभा के सुधा-सिन्धु में स्नात, सुनिर्मल !

सब रहस्य का परदा
मेरे दृग के सम्मुख खुला हुआ है,
मेरा सब परिज्ञान किरण के
ज्योति-सलिल से धुला हुआ है,

क्या दिग्भ्रान्त करेगा मुझको
मिथ्या का तम कभी अकिंचन ?

मेरे मानस की सरिता में संस्फुट स्वर्ण सत्य का शतदल !
यह सारा अस्तित्व विभा के सुधा-सिन्धु में स्नात, सुनिर्मल !

अपनी गति का दिशा-ज्ञान है
मेरे इन चरणों को सम्यक्,
लक्ष्य हृदय को परिचित अपना
नयनों को निज स्वप्न विमोहक,

प्राण-पथिक को ज्ञान पूर्णतः
अपने चिर गन्तव्य स्थान का,

मेरे अन्तर में खुलता है अटल श्रेय का लोक समुज्ज्वल !
यह सारा अस्तित्व विभा के सुधा-सिन्धु मे स्नात, सुनिर्मल !

जलता है नक्षत्र एक
जिससे होती दिशि-दिशि आलोकित,
खिलता है जलजात एक
जिससे होती दिशि-दिशि चिर सुरभित,

होती है झंकार एक
जिससे भू-अम्बर मुखरित-शिजित,

मेरे प्राणों की वीणा पर एक वही स्वन स्पन्दित प्रतिपल !
यह सारा अस्तित्व विभा के सुधा-सिन्धु में स्नात, सुनिर्मल !

८।२।१९५३

३५

दो ऐसा स्वर जिससे अपनी मर्म-वेदना मैं कह पाऊँ !

मर्मवेदना जितनी भारी
उतना ही यह स्वर हलका है,
मर्मवेदना युग-युगान्त की,
यह स्वर तो केवल कल का है,

मर्मवेदना अचल अकम्पित
यह स्वर चलदल-सा चिर चंचल,

चंचलता की चपल धार में कैसे अचल शिला तैराऊँ !
दो ऐसा स्वर जिससे अपनी मर्म वेदना मैं कह पाऊँ !

गीली आँखों में ही कुछ-कुछ
गुंजित होती कथा हृदय की,
गीली आखों में ही कुछ-कुछ
व्यंजित होती व्यथा हृदय की,

गीली आँखों में ही कुछ-कुछ
बिम्बित होता अन्तर्जीवन,

इसके सिवा भला मैं कैसे अन्तस्तल के चित्र दिखाऊँ !
दो ऐसा स्वर जिससे अपनी मर्मवेदना मैं कह पाऊँ !

यह समस्त जीवन ही जैसे
चिर वियोग का चरम रूप है,
यह समस्त जीवन ही जैसे
चिर वियोग का चरम स्तूप है,

यह समस्त जीवन ही जैसे
चिर वियोग की करुण रागिनी,

विस्मृत-सी संयोग कहानी बोलो, मैं किस भाँति सुनाऊँ ?
दो ऐसा स्वर जिससे अपनी मर्मवेदना मैं कह पाऊँ !

प्राण, तुम्हारे अमृत-गीत हैं
बिखरे-बिखरे रेणु-रेणु में,
प्राण, तुम्हारे अमृत-गीत ह
मुखरित-मुखरित विश्व-वेणु में,

प्राण, तुम्हारे अमृत गीत
गुंजित अतीत हो जन्म-मरण से,

मैं अपनी मृण्मय वीणा पर बोलो, कैसे उन्हें बजाऊँ ?
दो ऐसा स्वर जिससे अपनी मर्मवेदना मैं कह पाऊँ !

१२।२।१९५३

३६

मेरा तो हर श्वास तुम्हारा लेकर नाम पुकार रहा है !

मुझे बाँधता है युग–युग से
मेरी ही सीमा का बन्धन,
मुझे बाँधता है युग–युग से
मेरा ही यह लघु अपनापन,

इस कुंठा से, इस कारा से
पाने को उद्धार युगों से

मेरा तो हर श्वास तुम्हारा लेकर नाम पुकार रहा है !
मेरा तो हर श्वास तुम्हारा लेकर नाम पुकार रहा है !

काटो ये ममता के बन्धन
यह व्यामोहावरण हटाओ,
मेरे मन के अन्धकार में
चिन्मय विद्युत्-दीप जलाओ,

दिखलाओ अपना श्रेयस्–पथ
अपनी ज्योतिर्बाहु बढ़ाओ,

कस लो मुझे प्रकाश-पाश में, मेरा हृदय गुहार रहा है!
मेरा तो हर श्वास तुम्हारा लेकर नाम पुकार रहा है!

केवल स्वप्न अधूरे देखा
करते मेरे नयन अकिंचन,
केवल गीत अधूरे गाया
करते मेरे अधर-प्रकम्पन,

केवल दृश्यावली अधूरी
फैली-फैली रहती सम्मुख,

ओ सम्पूर्ण! तुम्हें छू पाने से भी उर लाचार रहा है!
मेरा तो हर श्वास तुम्हारा लेकर नाम पुकार रहा है!

सदय हृदय हो ओ करुणा—
वरुणालय अपनी छाँह बढ़ाओ,
स्नेहाश्रय दो, घन कुहेलिका
की यह भीषण भीति मिटाओ,

दो अपनी पद-रेणु प्रभामय
मृत को अमृत-चेतना भी दो,

यह पाषाण तुम्हारा युग से अपलक पंथ निहार रहा है!
मेरा तो हर श्वास तुम्हारा लेकर नाम पुकार रहा है!

१।१०।१९५३

३७

जाने कितने सुधि-तारों से मेरा नीलाकाश भरा है!

जाने कितनी बार शिशिर की
हिम-तुषार-छाया छाई है,
जाने कितनी बार प्यार की
कोमल कलिका कुम्हलाई है,

जाने कितनी बार विकल
ऊष्मा की फूटी भीषण ज्वाला,

जाने कितनी बार हृदय यह मेरा पावस-सा उमड़ा है!
जाने कितने सुधि-तारों से मेरा नीलाकाश भरा है!

जाने कितने सपने मेरे
दूर-सुदूर क्षितिज पर अंकित,
जाने कितने दीप स्नेह के
अर्द्ध निशा से ही निर्वापित,

जाने कितनी भग्नाशा
मुखरित मर्मरित शुष्क पत्रों में,

जाने कितने अश्रु-कणों से भींगी मेरी भाव-धरा है !
जाने कितने सुधि-तारों से मेरा नीलाकाश भरा है !

जाने कितनी दूर रूपमय
मुग्ध निशा की शुभ्र चाँदनी,
जाने कितनी दूर प्रणय-प्लुत
प्राणों की उन्माद-रागिनी,

जाने कितनी ध्वस्त-नष्ट
सुख-स्वप्नों की सम्मोहक संसृति,

जाने क्या-क्या सह-सहकर उर अचल शिला-सा मूक पड़ा है !
जाने कितने सुधि-तारों से मेरा नीलाकाश भरा है !

देख रहे तुम इन गीतों में
भरा हुआ उन्मादक परिमल,
श्रवण कर रहे तुम मेरे
इन श्वासों का सुरभित स्वर कोमल,

किन्तु गीत-स्वर ये मेरे
इच्छाओं की समाधि पर उत्थित

जाने कितनी मर्म-व्यथा पी अधरों पर यह स्मित निखरा है !
जाने कितने सुधि-तारों से मेरा नीलाकाश भरा है !

२५ । १ । १९५३

३८

तेरे स्मृति-कुंजों मे उड़ता मेरे मन का मुग्ध विहंगम !

तू है अक्षय स्रोत अमृत का
मेरा उर युग-युग का प्यासा,
तू है परम तृप्ति का सागर
मेरा उर साकार पिपासा,

तू है भाव चिरन्तन अक्षत
मेरा अन्तर विह्वल भाषा,

तेरी सीमा-रेखा छूने का ही सारा जीवन उपक्रम !
तेरे स्मृति-कुंजों में उड़ता मेरे मन का मुग्ध विहंगम !

लंबी यात्रा : और सामने
कष्टों का यह शूल भरा पथ,
मंजिल दूर— सुदूर, सामने
स्वप्नों का यह धूल भरा पथ,

अंचल में केवल तेरी ही
सुधि का स्नेह भरा कुछ सम्बल,

और, पथिक का महालक्ष्य की सफलब्धि का उद्यम दुर्दम!
तेरे स्मृति-कुंजों में उड़ता मेरे मन का मुग्ध विहंगम!

तू है वह जिससे मेरी यह
मिट्टी की संसृति संचालित,
तू है वह जिससे मेरी
आत्मा की दीपशिखा आलोकित,

तू है वह जो छाया रहता
मेरे मन के भूमि-गगन में,

तेरे ही निःशेष पाश में विवश बद्ध मेरे जड़-जंगम!
तेरे स्मृति-कुंजों में उड़ता मेरे मन का मुग्ध विहंगम!

जगती के सौ कुंज : किन्तु
मुझको क्षण-भर विश्राम नहीं है,
शूलों की या फूलों की
शय्या से मुझको काम नहीं है,

मुझ यात्री के लिए यहाँ पर
सुबह नहीं है, शाम नहीं है,

मेरा आश्रयस्थल केवल तेरी बाँहों का बन्धन प्रियतम!
तेरे स्मृति-कुंजों में उड़ता मेरे मन का मुग्ध विहंगम!

८।३।१९५३

१६

देखो, रूप तुम्हारा ही है मेरे श्वासों के दर्पण में !

प्रतिक्षण प्रतिपल यह जो बजती
रहती मधुर मृदु रागिनी
उर के नील गगन में छाई
रहती यह जो स्निग्ध चाँदनी,

यह जो मन का पक्षी उड़ता
रहता मृदु कल्पना-पंख पर,

चिर रहस्य-संकेत तुम्हारा मेरे सारे आकर्षण में !
देखो, रूप तुम्हारा ही है मेरे श्वासों के दर्पण में !

हाथों में हथकड़ियाँ सुन्दर
पावों में बेड़ियाँ मनोहर,
रोम-रोम पर प्रहरी सुख का
सजग अतन्द्रिल रजनी-वासर,

चरण-चरण पर मधु की कारा
पारिजात-प्रसून-सौरभ की,

पलकें बन्दी प्राण, तुम्हारे स्वप्नों के ही सम्मोहन में !
देखो, रूप तुम्हारा ही है मेरे श्वासों के दर्पण में !

दिन बिखेर जाता स्वर्णाभा,
निशि बिखेरती शुभ्र चाँदनी,
स्वर्ण रजत की वर्षा होती
इसी तरह से दिवा-यामिनी,

दिन-भर खिलता स्वर्ण कमल-सा,
निशि-भर खिलता रजत कुमुद-सा,

इसी भाँति से बँधे-बँधे-से निशि-दिन सुषमा के बन्धन में !
देखो, रूप तुम्हारा ही है मेरे श्वासों के दर्पण मे !

आकांक्षा का नव वसन्त
मुसकाता रहता दिग्-दिगन्त में,
मलयानिल-सा बहता रहता
मृदु मन्थर गति से अनन्त में,

जाने कितनी शोभा-श्री
लेती रहती है अँगड़ाई-सी,

खिलते रहते पुष्प न जाने कितने मन के नन्दन-वन में !
देखो, रूप तुम्हारा ही है मेरे श्वासों के दर्पण में !

१४।३।१९५३

४०

आओ अपनी पग-पायल से सूनेपन को मुखरित कर दो !

युग-युग से निःशब्द पड़ी है
मेरे जीवन की विभावरी,
युग-युग से निस्तब्ध खड़ी है
मेरी मृदु कल्पना की परी,

युग-युग से रवहीन आरती-दीप
लिए भावना - कुमारी,

आओ अपनी पग-पायल से सूनेपन को मुखरित कर दो !
आओ अपनी पग-पायल से सूनेपन को मुखरित कर दो !

युग-युग से यह मरुथल
जलता रहा ग्रीष्म के प्रखर ताप से,
युग-युग से यह रहा दहकता
किसी अमगलपूर्ण शाप से,

युग-युग से यह रहा समेटे
निज अचल मे अक्षय ज्वाला,

आओ रन्ध्र-रन्ध्र म इसके शीतल स्नेह-सुधा-कण भर दो !
आओ अपनी पग-पायल से सूनेपन को मुखरित कर दो !

युग-युग से यह रेणु - रेणु
निर्वाक्-अवाक् प्रतीक्षा मे रत,
युग-युग से दिग्वेणु अनन्त—
अजस्र प्रतीक्षा मे आकुलवत्

युग-युग से सब तार पडे
अन्तर्वीणा के निष्कम्पित– से

आओ इन्हे जगा जाओ तुम, अपने मादक नूतन स्वर दो !
आओ अपनी पग-पायल से सूनेपन को मुखरित कर दो !

युग-युग से इस घर का
घेरे है कोई व्यापक अँधियारा,
बन्दी किये हुए है चेतनता को
दुर्गम जडता – कारा,

बहती है अविराम अनाहत
दुर्द्धर गहन तिमिर की धारा,

आओ इस एकान्त कक्ष मे उज्ज्वल ज्योतिशिखा तुम धर दो !
आओ अपनी पग-पायल से सूनेपन को मुखरित कर दो !

२१।१२ १९५३

४१

दो वरदान कि गी। तुम्हारा गाते-गाते मैं सो जाऊं !

जाने कितना भार दिया धर
तुमने जीवन पर श्वासों का,
जाने कितना भार दिया धर
तुमने उर पर उच्छ्वासों का,

जाने कितना भार दिया धर
तुमने मन पर मर्म-व्यथा का,

इन चीजों को मैं कैसे केवल दो शब्दों में समझाऊँ ?
दो वरदान कि गीत तुम्हारा गाते-गाते मैं सो जाऊँ !

यात्रा की मैं ने जीवन भर
लेकिन पथ का शेष न आया,
देखो, घिर आई है शिर पर
सन्ध्या की यह धूमिल छाया,

उतर रही निद्रा पलकों में
घिरी आ रही मौन उदासी,

इस एकान्त शान्त निर्जन में रागों के दो दीप जलाऊँ !
दो वरदान कि गीत तुम्हारा गाते-गाते मैं सो जाऊँ !

इस यात्री को एक तुम्हारे
गीतों का ही केवल सम्बल,
इस यात्री को एक तुम्हारे
गीतों का ही केवल कुछ बल,

गीतों के अतिरिक्त न कुछ
आधार दूसरा यात्रा-पथ पर

चाह यही—गीतों की ही मैं धूमशिखा बनकर छा जाऊँ !
दो वरदान कि गीत तुम्हारा गाते-गाते मैं सो जाऊँ !

गीत दीप हैं स्यात् कि जिनसे
मिट पाये किंचित् अँधियाला,
गीत दीप हैं स्यात् कि जिनसे
फूट पड़े स्वर्णिम उजियाला,

गीत दीप हैं स्यात् कि जिनसे
आ जाये अभिनव अरुणोदय,

गीतों में ही एक बार मैं अपने को झंकृत कर पाऊँ !
दो वरदान कि गीत तुम्हारा गाते-गाते मैं सो जाऊँ !

१५ । २ । १९५३

४२

मैं क्या हूँ? मैं प्राण, तुम्हारे चरणों पर हूँ पुष्प निवेदित!

रूप, गंध, मधु, रस, श्री, सुषमा
सब वरदान तुम्हारे ही हैं,
मेरे अन्तस्तल में मुखरित
सब मधुगान तुम्हारे ही हैं,

मेरे मानस पर छाई है
प्राण, तुम्हारी ही रूपाभा,

मैं क्या हूँ? मैं प्राण, तुम्हारे चरणों पर हूँ पुष्प निवेदित!
मैं क्या हूँ? मैं प्राण, तुम्हारे चरणों पर हू पुष्प निवेदित!

स्वर की यह मृदु लहरी : गूंज
रही जो विस्तृत भूमि-गगन में,
बाँध रही है जो अग-जग को
अपने ही मृदु भुज-बन्धन में,

जिसमें बँधा-बँधा-सा अग-जग
पड़ा हुआ है मुग्ध विवश-सा,

प्राण, तुम्हारी ही झंकृति का यह चिर अद्‌भुत खेल अपरिचित !
मैं क्या हूँ ? मैं प्राण, तुम्हारे चरणों पर हूँ पुष्प निवेदित !

सजल अर्चना की मर्मर-ध्वनि
छाई रहती है निशि–वासर,
सुभग प्रार्थना का उठता
रहता है प्रतिक्षण मंगलमय स्वर,

मधुर आरती का छाया रहता
है अगुरु-धूम चिर सुरभित,

दीपाधार हृदय यह मेरा; प्रियतम, तुम ही दीपालोकित !
मैं क्या हूँ ? मैं प्राण, तुम्हारे चरणों पर हूँ पुष्प निवेदित !

इन गीतों में गुंजित प्रियतम,
नित्य तुम्हारी निर्मल वाणी,
इन गीतों में गूंजित प्रियतम,
नित्य तुम्हारी मर्म – कहानी,

इन गीतों में मुखर तुम्हारे
अन्तस्तल का सुमधुर स्पन्दन

इन गीतों के शिल्पों में ओ शिल्पकार, तुम ही चिर मूर्त्तित !
मैं क्या हूँ ? मैं प्राण, तुम्हारे चरणों पर हूँ पुष्प निवेदित !

१५।२।१९५३

४३

तुम से नाता जोड़ और सबसे मैं नाता तोड़ चुका हूँ !

कलियों ने सौ बार बुलाया
फूलों ने सौ बार पुकारा,
रूप-रंग-रस की दुनिया ने
बड़ी चाह से मुझे निहारा,

नव वसन्त–श्री ने मोहित हो
आलिंगन को हाथ पसारा,

तुम से नाता जोड़ किन्तु मैं सब से नाता तोड़ चुका हूँ !
तुम से नाता जोड़ और सब से मैं नाता तोड़ चुका हूं !

दिया भूमि की सार्थकता ने
मुझको अगणित बार निमंत्रण,
भू की सकल सफलता आई
करने को चरणों का चुम्बन,

अगणित ऐश्वर्यों ने चाहा
करना नीरव आत्मसमर्पण

तज सब कुछ मैं स्वप्न-सिन्धु मे जीवन-तरणी छोड़ चुका हूँ!
तुम से नाता जोड और सब से मै नाता तोड चुका हूँ!

परिहासों से पूर्ण जगत् ने
जाने कितना क्या बरसाया,
मेरी दुर्द्धर इच्छाओं को
मेरा पागलपन बतलाया,

मेरे शब्दों को ही व्यंग्य–
भरे शब्दों मे फिर दुहराया,

किन्तु काल के क्रूर हास से मै विजयी ले होड़ चुका हूँ!
तुम से नाता जोड और सब से मै नाता तोड चुका हूँ!

ऊपर हूँ मै, ऊपर नभ मे
मेरा विजय-गान होता है,
सुनती है विस्मित भू, नभ से
मेरा शुभाह्वान होता है,

मेरे प्राणों में नवीन
प्रतिमा का प्रतिष्ठान होता है,

तोड सकल सम्बन्ध सृष्टि से तुमसे नाता जोड़ चुका हूँ!
तुम से नाता जोड और सबसे मैं नाता तोड़ चुका हूँ!

२०।५।१९५३

४४

कोई स्वप्न-द्वार पर मुझको जैसे आज पुकार रहा है !

दूर प्रवासी पावस की
उल्लास-बाँसुरी आज बज रही,
दिग्-दिगन्त की मधुशाला ज्यों
आज अचानक पुनः सज रही,

स्वर्ण चित्र होकर सजीव ज्यों
आज कर रहा नयनोन्मीलन,

कोई स्वप्न-द्वार पर मुझको जैसे आज पुकार रहा है !
कोई स्वप्न-द्वार पर मुझको जैसे आज पुकार रहा है !

तप्त धरा के रोम-रोम में
आज उगे आते आशांकुर,
विश्व-वीण के तार-तार में
आज भरे आते मोहक सुर,

तप्त धरा के रन्ध्र-रन्ध्र में
बज-बज उठती पुलक-रागिनी,

कोई प्रेम-स्पर्श से जैसे अद्भुत रस संचार रहा है !
कोई स्वप्न-द्वार पर मुझको जैसे आज पुकार रहा है !

मिटी जा रही धूम-राशि
बनता आता है चित्र मनोरम,
दृग के सम्मुख खिंचा आ रहा
भावी का सुन्दर रेखा – क्रम,

मिटी जा रही शुष्क अनास्था,
जगी आ रही रसमय आस्था

कोई सुख-सुषमा से जैसे रच नूतन संसार रहा है !
कोई स्वप्न-द्वार पर मुझको जैसे आज पुकार रहा है !

भीगेगी, निश्चय भीगेगी
युग-युग की चिर तृषा हृदय की,
रिमझिम-रिमझिम बरसेगी
अक्षय रस-धारा मृदुल प्रणय की,

टूटेगी कारा युग-युग की
फूटेगी चैतन्य - निर्झरी,

कोई वर्षा-छवि से ज्यों भूतल का कर शृंगार रहा है !
कोई स्वप्न-द्वार पर मुझको जैसे आज पुकार रहा है !

२८ । ६ । १९५३

४५

रात अँधेरी है ओ साथी, तुम भी स्वर के दीप जलाओ !

यह निस्तब्ध प्रहर रजनी का
जड़ निद्रा में जगती सोई,
स्वप्नों के जल से शतदल-सी
संसृति की आँखें हैं धोई,

पवन अलस तन्द्रा में
धीरे-धीरे चलता शिथिल चरण से

जाग रहा तम-तोम भयानक, तुम भी स्वर के दीप जलाओ !
रात अँधेरी है ओ साथी, तुम भी स्वर के दीप जलाओ !

धरती का प्रोज्ज्वल प्रकाश
घन अन्धकार-अञ्चल में आवृत,
धरती के सब सद्विचार
छल-छन्द छद्म-कालुष्य-समाहित,

धरती के अन्तर में जलता
घृणा-हुताशन विषम भयंकर

बरसाओ, जलती धरती के उर पर स्नेह-सलिल बरसाओ !
रात अँधेरी है ओ साथी, तुम भी स्वर के दीप जलाओ !

महामरण की घाटी में
मानव भूला-भटका फिरता है,
सघन निराशा की झंझाकुल
लहरों पर बेबस तिरता है,

ढोता है अवसाद-व्यथा का
दुर्वह भार विवश कंधों पर,

दो जीवन की ज्योति उसे कुछ मुग्ध अमृतमय गायन गाओ !
रात अँधेरी है ओ साथी, तुम भी स्वर के दीप जलाओ !

जगती के हिम-शीत हृदय में
करो नया पावक-कण वितरण,
हो नूतन आलोक लोक में
दिव्य जागरण, दिव्य संस्फुरण,

युग-युग की चिर शिथिल शिरा में
हो नूतन शोणित का स्पन्दन,

देने को नव प्राण धरा को निज संजीवन-कोष लुटाओ !
रात अँधेरी है ओ साथी, तुम भी स्वर के दीप जलाओ !

५।१२।१९५२

४६

किरण, तुम्हारा स्वर्ण-हास मेरा अन्तर-तम हर न सका है !

मेरे पथ पर छाया है
युग-युग से यह भीषण अँधियाला,
मेरा गति-अवरोध किये है
भीषण तम का दानव काला,

मेरे श्वासों पर छाई है
अक्षय अभिशापों की छाया,

किरण, तुम्हारा स्वर्ण हास मेरा अन्तर-तम हर न सका है !
किरण, तुम्हारा स्वर्ण हास मेरा अन्तर-तम हर न सका है !

हिलता कोई भी न पात
मृदु मलय समीरण के स्पन्दन से,
मर्मर गान न करते तरुवर
अन्तरतम के आकर्षण से,

छाती है न कहीं हरियाली
विजन विपिन में किसी ओर भी,

सुमन, तुम्हारा सुरभि-हास मेरे उपवन में भर न सका है !
किरण, तुम्हारा स्वर्ण हास मेरा अन्तर-तम हर न सका है !

सुनता हूँ आकर्षण रखता
नीरवता का सूनापन भी,
सुनता हूँ आकर्षण रखता
निःस्वरता का आलिंगन भी,

सुनता हूँ आकर्षण रखता
चिर एकान्त शान्त निर्जन भी,

विजन, तुम्हारा मुग्ध हास बन इन्द्रधनुष-सा घिर न सका है !
किरण, तुम्हारा स्वर्णहास मेरा अन्तर-तम हर न सका है !

द्वार मुक्ति का देता सहसा
खोल तुम्हारी करुणा का कण,
काट दिया करता है पल में
जग के, जीवन के सब बन्धन,

हलका भार कर दिया करता
है पथिकों के मन-प्राणों का,

मरण, तुम्हारा मौन हास मेरे जीवन को वर न सका है !
किरण, तुम्हारा स्वर्ण हास मेरा अन्तर-तम हर न सका है !

२८ । ५६ । १९५३

४७

मेरा प्यार तुम्हारे प्राणों पर कैसे प्रिय, भार बन गया ?

फूलों से भी हलका - फुलका,
तूलों से भी मंजुल - कोमल,
परिमल से भी भीना-भीना
चन्दन से भी सुरभित - शीतल,

रजत चाँदनी से भी उज्ज्वल
दुग्ध-फेन से भी मृदु निर्मल,

मेरा प्यार तुम्हारे प्राणों पर कैसे प्रिय, भार बन गया ?
मेरा प्यार तुम्हारे प्राणों पर कैसे प्रिय, भार बन गया ?

प्रतिपल का आराधन - साधन,
प्रतिपल का अर्चन-अभिवन्दन,
प्रतिपल का अभिनन्दन-पूजन
प्रतिपल का नैवेद्य – निवेदन,

प्रतिपल का आत्मा का गुंजन,
प्रतिपल का सर्वस्व समर्पण,

प्राण, तुम्हारी ग्रीवा का कैसे विषमय अहि-हार बन गया ?
मेरा प्यार तुम्हारे प्राणों पर कैसे प्रिय, भार बन गया ?

अम्बर-सा ही मुक्त और
अम्बर-सा ही विस्तीर्ण अपरिमित,
अम्बर-सा ही अन्तहीन
अम्बर-सा ही अगाध अति विस्तृत,

अम्बर-सा ही अकलुष मेरे
अन्तरतम का स्नेह सुसंचित,

प्राण, तुम्हारे हर्ष-विहग का कैसे कारागार बन गया ?
मेरा प्यार तुम्हारे प्राणों पर कैसे प्रिय, भार बन गया ?

फूल सदा बरसानेवाला,
अमृत सुधा सरसानेवाला,
चिर निष्ठुरतम कठिन शिला पर
पाटल पुष्प खिलानेवाला,

मरु को नन्दन करनेवाला,
ज्वाला चन्दन करनेवाला,

कैसे मेरा प्रणय तुम्हारा आत्मप्रलय सुकुमार, बन गया ?
मेरा प्यार तुम्हारे प्राणों पर कैसे प्रिय, भार बन गया ?

६ । ७ । १९५३

४८

अन्धकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो !

सर्वनाश क्या नवल सृष्टि का
सपना कभी मिटा पाया है ?
क्या न प्रलय के मरुप्रदेश मे
जीवन-उत्स उमड़ आया है ?

क्या न निशा के शून्य अंक में
ही जागी ऊषा सुकुमारी ?

अश्रु-स्रोत की रेखाओं पर मेरा यह मधुहास जयी हो !
अन्धकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो !

मरु में भी जो फूल उगाये
मेरी यह आकांक्षा दुर्दम,
प्रस्तर को भी पद्म करे जो
मेरी यह वासना मनोरम,

ज्वाल-भूमि को नन्दन कर दे
मेरी यह ईप्सा सुकुमारी,

पतझड़ पर छा जानेवाला मेरा यह मधुमास जयी हो !
अन्धकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो !

माना, आज ग्रीष्म-ऋतु है,
कल पावस की बाँसुरी बजेगी,
माना, आज धूल उड़ती है
कल धरती रस से भीगेगी,

माना, आज ज्वाल कण-कण में
कल होगी हरियाली सुन्दर,

अवसादों पर हँसनेवाला मेरा यह उल्लास जयी हो !
अन्धकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो !

लौट जायँ हो विफल मनोरथ,
शत-सहस्र विध्वंसों के रथ,
शत-शत झंझाओं के झोंके
लौटें होकर भग्न – मनोरथ,

जलता रहे साधना-दीपक
मेरा यह निष्कम्प निराकुल,

अन्धकार को पीनेवाला मेरा प्रखर प्रकाश जयी हो !
अन्धकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो !

५।४।१९५३

४६

कहाँ लिए जाती हो मुझको ओ मेरी छविप्राण, अहर्निश ?

भूल रहा हूँ मैं जगतो को,
भूल रहा हूँ मे जीवन को,
भूल रहा हूं मं अपने को,
भूल रहा हूँ मैं तन - मन को,

एक लहर—जिस पर मैं बेबस
उठता-गिरता बहा जा रहा,

तुम्ही बता दो—कहाँ जा रहा मेरा जीवन-यान अहर्निश ?
कहाँ लिए जाती हो मुझको ओ मेरी छविप्राण, अहर्निश ?

यह कैसा उद्वेलन जिसका
आदि नही है अन्त नही है ?
यह कैसा आन्दोलन जिसका
आदि नही है अन्त नहीं है ?

यह कैसा आलिगन जिसमें
मेरी जीवन-साँस बँधी-सी ?

गूंज किए रहता है मुझको किस रहस्य का गान अहर्निश ?
कहाँ लिए जाती हो मुझको ओ मेरी छविप्राण, अहर्निश ?

एक तुम्हारे इगित में है
सो-सो स्वप्नो का सम्मोहन,
एक तुम्हारे मृदु स्मित मे है
सो-सो इन्द्रधनुष-छवि-अकन,

एक तुम्हारे सुरभि-श्वास मे
सौ-सौ स्वर्गो की वसन्त-श्री,

सौ-सौ मुखर स्वरो मे सुनता हूँ मै चिर आह्वान अहर्निश !
कहाँ लिए जाती हो मुझको ओ मेरी छविप्राण, अहर्निश ?

कचन छोड नयन करता हूँ
धूलि-कणो को मे निशि-वासर,
तजकर फूलो को शूलो मे
करता हूँ शृगार मनोहर,

मेरा पथ जगती के पथ से
भिन्न और विपरीत हो गया,

मै विनाश की छाया मे हूँ ढूंढ़ रहा निर्माण अहर्निश !
कहाँ लिए जाती हो मुझको ओ मेरी छविप्राण, अहर्निश ?

२० । १२ । १९५३

घिर आये घनश्याम गगन में, भर आये मेरे लोचन हैं !

अन्तरिक्ष मे बिखरे सहसा
किसके ये काले कुन्तल हैं ?
नभ की सरिता में उग आये
किसकी छवि के नील कमल हैं ?

पड़ी दिगन्तों की बाँहों में
किसकी काया कान्त कलित-सी ?

ध्वनित-प्रतिध्वनित मेघ-मन्द्र में सहसा किसके स्वर मोहन हैं ?
घिर आये घनश्याम गगन में, भर आये मेरे लोचन हैं !

दूर-दूर जैसे पावस की
वंशी-सी बज उठी अचानक,
स्वप्न-मूर्त्ति साकार हुई हो
जिसे देखकर आँखें अपलक,

मन के वातायन से जैसे
झाँक-झाँककर उतर-उतरकर

उर-आँगन में आई सहसा मधु-छायाएँ चपल-चरण हैं!
घिर आये घनश्याम गगन में, भर आये मेरे लोचन हैं!

धरती के अन्तर की तृष्णा
बादलदल का लोक सजल है,
धरती के अन्तर की ज्वाला
विद्युत् का आलोक नवल है,

उतरो-उतरो हे नभवासी,
तृषित धरा की ज्वाल-भूमि में,

तृण-तृण, तरु-तरु, नद-निर्झर सब करते आकुल अभिनन्दन हैं!
घिर आये घनश्याम गगन में, भर आये मेरे लोचन हैं!

धरती की चिर तृषा शान्त हो
उग आयें नूतन स्नेहांकुर,
बजने लगे प्राण-वीणा में
स्वर्ण-रागिणी, आशा-नूपुर,

धरती के मानस के नभ में
हो स्वप्नों का सुरधनु अंकित,

सुने भूमि—अम्बरवासी के बजते भू पर मृदु शिंजन हैं!
घिर आये घनश्याम गगन में, भर आये मेरे लोचन हैं!

भींगे धरती का कण-कण
आनन्द-हर्ष के मधु वर्षण में,
डूब जाय जीवन का क्रन्दन,
प्राणों के सुमधुर गायन में,

बदल जाय यह ज्वालवेश
हो धरणी नूतन हरित मर्मरित,

तुम से माँग रहे युग-युग के शाप-ताप स्नेहार्द्र शरण है !
घिर आये घनश्याम गगन में, भर आये मेरे लोचन हे !

१०।७।१९५२

जाओगी तुम——एक यही ध्वनि बजती है मन के तारों पर !

चल दोगी तुम——इन्दु जिस तरह
चल देता निःशब्द गगन से,
चल दोगी तुम——अश्रु जिस तरह
चल देते चुपचाप नयन से,

चल दोगी तुम—स्वप्न जिस तरह
चल देता नीरव पलकों से,

बिछुड़न ही तो आज ध्वनित है मेरे कण-कण के तारों पर !
चल दोगी तुम——एक यही ध्वनि बजती है मन के तारों पर !

आज विदा की घड़ी उपस्थित
क्या जाने कब होगा मिलना,
यह तो मुरझाने की वेला
क्या जाने कब होगा खिलना,

जो न कभी झेला सँग-सँग रह
वह होगा झेलना अकेला,

पीड़ा का आघात भयकर उर के कचन के तारो पर!
जाओगी तुम--एक यही ध्वनि बजती है मन के तारो पर!

सूना-सूना लगा करेगा
अब अपना ही सारा आलय,
कोलाहल मे भी नीरवता
दिया करेगी अपना परिचय,

खुली रहेगी खिडकी लेकिन
भर न सकेगा नव प्रकाश-कण,

अन्धकार-ध्वनि शिजित होगी मेरे जीवन के तारो पर!
जाओगी तुम--एक यही ध्वनि बजती है मन के तारों पर!

ये छोटे-छोटे कोमल शिशु
इनकी याद बड़ी आयेगी,
जब-तब नील नयन के नभ पर
श्याम घटा घिर-घिर जायेगी,

ऊमस बड़ी हृदय में होगी
साँसों का दम घुँटता होगा,

नहीं पवन का गीत बजेगा मन-वातायन के तारों पर!
जाओगी तुम--एक यही ध्वनि बजती है मन के तारों पर!

उगा आ रहा है वियोग का
सन्ध्या - तारा शून्य क्षितिज पर,
बनता जाता गहन निशा का
चित्र शून्य में धूमिल–धूसर,

भरती जाती वंशी-स्वर में
सूनेपन की करुण रागिनी,

कम्पित-सी भविष्य की छाया एकाकीपन के तारों पर !
जाओगी तुम—एक यही ध्वनि बजती है मन के तारों पर !

काल-प्रवाह अजस्र - अबाधित
जिसमें विरह-मिलन लघु तिनके,
काल-प्रवाह-धुरी पर ही तो
चलते तम-प्रकाश निशि-दिन के,

अभी रात है तो निश्चय ही
कल प्रभात भी मुस्कायेगा,

एक यही प्रतिध्वनि गुंजित है मेरे चिन्तन के तारों पर !
जाओगी तुम—एक यही ध्वनि बजती है मन के तारों पर !

१६।२। १९५३

५२

मेरे आँसू मे रंजित है रजत रश्मिमय हास सुनहला !

यह जो धुँधला-धुँधला-सा तम
यह जो बुझती हुई विभा–सी,
यह जो घेरे है छायापथ
को सन्ध्या की मौन उदासी,

यह तो उषःकाल – अरुणोदय
का सुमधुर संस्मरण लिये है,

मेरे अवसादों में अंकित है अन्तर-उल्लास सुनहला !
मेरे आँसू में रंजित है रजत रश्मिमय हास सुनहला !

राशि-राशि बिखरे ये तृण-कण
आच्छादित जिनसे सब उपवन,
पीतवर्ण, श्री से विहीन
जर्जर-अन्तर, मृत, गत-आकर्षण,

रोमांचित थे ये भी सुनकर
मलयपवन का मर्मर-निस्वन,

मेरे पतझड़ में मुखरित है मधुऋतु का इतिहास सुनहला !
मेरे आँसू में रंजित है रजत रश्मिमय हास सुनहला !

यह खँडहर जो खड़ा सामने
कहता-सा कुछ मर्म-कहानी,
गुंजित है इसके कण-कण में
विगत विनष्ट विभव की वाणी,

उठता-सा इसकी आकृति में
एक भव्य प्रासाद-शिखर—सा,

मेरी पीड़ा में कुसुमित है स्वप्नों का आभास सुनहला !
मेरे आँसू में रंजित है रजत रश्मिमय हास सुनहला !

मिलन-यामिनी आज बन गई
विपुल विरह की अमा-निशा है,
विहग हर्ष का भ्रमित चकित-सा
पा न रहा गन्तव्य दिशा है,

दीप बुझ गया आनन्दोत्सव का
मन्दिर में घन तम छाया,

मेरे स्मृति-दर्पण में बिम्बित है गत सुख-आकाश सुनहला !
मेरे आँसू में रंजित है रजत रश्मिमय हास सुनहला !

तू ने पीड़ा पहचानी है
पृष्ठभूमि मे प्यार न देखा,
तू ने हाहाकार सुना है,
प्रणय-मुग्ध अभिसार न देखा,

मेरे ये विषाद के क्षण हैं
अतुल स्नेह-संस्मृतियों के घर,

मेरे उच्छ्वासो मे स्पन्दित कोई सुरभित श्वास सुनहला !
मेरे आँसू मे रजित है रजत रश्मिमय हास सुनहला !

९ । ९ । १९५१

५३

पथ नि:शेष दिया चलने को, जलने को यह दीपक-सा मन !

रुकें न किंचित् भी पग मग में
तेरा यह आदेश कठिनतम,
तन्द्रालस न पलक हों, छू न
सकें नयनों को स्वप्न मनोरम,

क्षत-विक्षत हों चरण भले ही
रुककर कंटक नही निकालूँ

लूँ विश्राम न तनिक कहीं भी, चलता रहूँ अहर्निश प्रतिक्षण !
पथ नि:शेष दिया चलने को, जलने को यह दीपक-सा मन !

चलूँ सतत अविराम मार्ग में
इसमें क्या तेरा आशय है ?
मेरी पूर्ण पराजय तेरी
उज्ज्वल गौरव-दीप्त विजय है !

मेरे आँसू-जल में पलता
शायद तेरा स्मित-शतदल है,

मेरी मर्मवेदना शायद तेरे मधुर हर्ष का कारण !
पथ निःशेष दिया चलने को, जलने को यह दीपक-सा मन !

कर आदेश भंग तेरा
इच्छा होती है मैं सो जाऊँ,
औ' अनन्त विश्रान्ति-अंक में
सहसा चिर दिन को खो जाऊँ,

सोऊँ ऐसी नींद कि जागूँ
कभी न कोई लाख पुकारे,

छिन्न-भिन्न करदूँ मैं तृण-सम तेरे निखिल नियम के बन्धन !
पथ निःशेष दिया चलने को, जलने को यह दीपक-सा मन !

सोचूँ चाहे कितना कुछ भी
पर मेरा क्या वश चलता है ?
बरबस मेरा मन यह जैसे
तेरे मन में ही ढलता है,

मेरा स्वत्व न रहता मेरा
बनता अकस्मात् तेरा ही,

तेरी इच्छा का क्रीड़ास्थल मेरा भग्न-करुण जग-जीवन !
पथ निःशेष दिया चलने को, जलने को यह दीपक-सा मन !

मेरे श्वास-श्वास में बजती
तेरी ही इच्छा की जय-ध्वनि,
बुझ-बुझ जाता है जल-जलकर
मेरी इच्छाओं का दिनमणि,

मेरी गहन उदासी तेरी
इच्छाओं का रूप चरम है,

चिर उच्छ्वास दिये अन्तर को, नयनों को झरने को जल-कण !
पथ निःशेष दिया चलने को, जलने को यह दीपक-सा मन !

१३ । ३ । १९५३

५४

चरण सदा चलते आये हैं, पथ की रेखा शेष हुई कब ?

मन—मृग भटका किया निरन्तर
कहाँ मिला पर कभी तृप्ति-कण ?
जीवन के जलते मरु-थल पर
कहाँ बरस पाया पावन घन ?

फूटा कहाँ स्रोत करुणा का
निष्ठुरता के कठिन शैल से ?

अग्नि-ज्वाल की खर लपटें ज्योत्स्ना-शीतल आश्लेष हुई कब ?
चरण सदा चलते आये हैं, पथ की रेखा शेष हुई कब ?

लाख जलाये दीप मिटा पर
कहाँ यामिनी का अँधियाला ?
छलका किया निरन्तर दुर्द्धर
दिग्दिगन्त का तममय प्याला,

लाख निषेध किया निद्रा का
कहाँ हुआ पर स्वर्ण-जागरण ?

जीवन की कृष्णा विभावरी प्रातः—अरुणिम-वेश हुई कब ?
चरण सदा चलते आये हैं, पथ की रेखा शेष हुई कब ?

लिखी जा रही रजत-अक्षरों
में मधुऋतु की नाश-कहानी,
लिखी जा रही अग्नि-अक्षरों
में यौवन की प्यास-कहानी,

लिखी जा रही ओस—अक्षरों
में अन्तर-उच्छ्वास-कहानी,

नक्षत्रों की लिपि, प्रयत्न से कुछ अनुकूल विशेष हुई कब ?
चरण सदा चलते आये हैं, पथ की रेखा शेष हुई कब ?

२६।४।१९५३

५५

तुम हो चरम सिद्धि मेरी, मेरा यह सारा जीवन साधन !

सकल सृष्टि-साम्राज्य छोड़ दूँ
राजमुकुट तृणवत परित्यागूँ,
मैं समस्त सम्पदा रेणुवत्
मुक्त व्योम के बीच उड़ा दूँ,

मैं अपने चरणों से क्षण में
सौ-सौ स्वर्गों को ठुकरा दूँ,

पल-भर को यदि मिले तुम्हारा फूल सदृश उज्ज्वल स्मित नूतन !
तुम हो चरम सिद्धि मेरी, मेरा यह सारा जीवन साधन !

तुम अनुकूल : न चिन्ता कुछ भी
रहा करे प्रतिकूल जगत् यह,
तुम दो फूल : न चिन्ता कुछ भी
बिखराये नित शूल जगत् यह,

तुम दो मधु-कण, चाहे मुझको
देता रहे जगत् हालाहल,

मैं तिनके पर ही चढ़कर कर लूँगा पार पयोनिधि भीषण!
तुम हो चरम सिद्धि मेरी, मेरा यह सारा जीवन साधन!

हूँ कृतज्ञ तुमने मेरे प्राणों
को इतनी तन्मयता दी,
इतने स्वप्न दिए दृग को
गीतों को इतनी मधुमयता दी,

इतनी प्रखर प्रेरणा दी
इतनी स्वच्छन्द कल्पना भी दी,

तुमने बिखराया यह सम्मुख इतना विस्तृत रंगभरा घन!
तुम हो चरम सिद्धि मेरी, मेरा यह सारा जीवन साधन!

कोटि-कोटि आनन्द निवेदित,
कोटि-कोटि उल्लास निवेदित,
कोटि-कोटि मेरे अन्तर के
हास - उमंग - विलास निवेदित,

हो जाये न्योछावर हँसकर
मेरे प्राणों की धड़कन भी,

सौ जन्मों के पुण्य-फल सदृश मिले तुम्हारा यदि मधु-दर्शन!
तुम हो चरम सिद्धि मेरी, मेरा यह सारा जीवन साधन!

जीवन है पर्याय प्रेम का
श्वास नाम पूजन-अर्चन का,
स्वर है संज्ञा प्रणय-गूँज की,
गीत दीप है नीराजन का,

रोम - रोम है पुलक - पुष्प
आँसू-कण अक्षत अर्घ्य चिरंतन,

तुम समस्त शोभा की सन्निधि, तुम मन्दिर की प्रतिमा पावन !
तुम हो चरम सिद्धि मेरी, मेरा यह सारा जीवन साधन !

११ । ८।१९५३

श्री जितेन्द्र कुमार जी की यह पहली रचना है। पर इसके गीतो को देखते ही मै समझ गया कि काव्य-साधना के मार्ग मे कई कदम उठा चुकने के बाद आपने वाणी के मदिर मे स्वर के ये दीप जलाए ह। भाषा और भाव की सुन्दरता के साथ कवि ने इन गीतो मे जो मनोहर राग भर दिए ह, वे मुझे विशेष रूप से प्रिय मालूम होते ह। आपकी इस प्रथम सफलता से मुझे भविष्य के लिए बडी-बडी आशाएँ हो रही हैं। मुझे विश्वास है कि आपकी यह मनोकामना निश्चय ही पूरी होगी —

"जलता रहे साधना-दीपक
मेरा यह निष्कम्प निराकुल।"

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
पटना-विश्वविद्यालय

एक कवि के रूप में श्री जितेन्द्र कुमार के साथ मेरा परिचय बहुत दिनों का रहा है। एक लम्बे अर्से से ये गीत लिखते आ रहे हैं। और इनके गीत हिन्दी की प्रायः सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। अभी तक इनकी रचनाओं का कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ था। यह संतोष की बात है कि "स्वर के दीप" नाम से कवि का यह प्रथम काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ है। क्या अनुभूति की मार्मिकता, क्या भाव की शबलता और क्या भाषा की स्वच्छता सभी दृष्टियों से ये गीत सुन्दर बन पड़े हैं। इन गीतों में कवि की सुकुमार अनुभूतियाँ मुखर हो उठी हैं। कतिपय गीतों की पंक्तियाँ तो सूक्तियों की तरह कंठस्थ कर लेने लायक हैं। उदाहरणार्थ : "पीर नहीं यह, मेरे प्राणों में पलती है प्रीति तुम्हारी," अथवा,

"जलती पाकर स्नेह तुम्हारा मेरे मन की दीपशिखा यह", इस प्रकार की कितनी ही मर्मस्पर्शी पंक्तियाँ इन गीतों में भरी पड़ी हैं। मुझे आशा है, इस संग्रह का हिन्दी संसार में समुचित समादर होगा और सहृदय काव्य-रसिक जन इन गीतों का रसास्वादन करके सच्चे अर्थ में तृप्तिलाभ करेंगे।

प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
मिथिला कालेज, (दरभंगा)

शुभाशीष

प्रिय जितेन्द्र जी,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपके गीतों का संग्रह प्रकाशित होने जा रहा है। बिहार में गीतों की एक सुन्दर परम्परा है। हम सब में जो सब से बड़ा था, मेरा मतलब है विद्यापति से, वह भी तो एक महान् गीतकार था। मुझे यह देखकर सदा आनन्द हुआ है कि आपके गीतों में उस शानदार परम्परा का सम्यक् निर्वाह हुआ है।

क्या कहूँ, चाहता था, आपके इस संग्रह को मैं हिन्दी पाठकों के सामने स्वयं उपस्थित करूँ—आप और आपके गीतों का एक अच्छा परिचय लिखकर; किन्तु बीमारी के कारण अपनी वह इच्छा पूरी नहीं कर सका। सच कहूँ, मुझे स्वयं इसका दुख है, आपको भी होगा। क्योंकि आपके गीतों का एक संग्रह प्रकाशित हो, इसका तक़ाज़ा मैं सदा आपसे करता रहा हूँ।

ख़ैर, आपके "ये स्वर के दीप" अपना परिचय स्वयं दे लेंगे। आपके इन गीतों को "दीप के स्वर" का आस्पद दिया जाता, तो भी उपयुक्त ही होता। नगर के कोलाहलों से दूर, किसी एकान्त देव-मन्दिर में दीप की ही तरह एकाकी जलते रहना और अपने प्रकाश में आप खो जाना, यही आपका जीवन है और इन गीतों में अपने उस जीवन को आपने मूर्तिमान किया है। बड़ा ही करुण और ज्वलन्त है यह जीवन!

देखता हूँ, लिखने के लिए भावनाएँ उमड़ रही हैं। किन्तु, शरीर की शक्ति कहती है, रुको। इसके प्रकाशन के शुभ अवसर पर मेरा शुभाशीष लीजिय, बस।

सस्नेह,

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

(सम्पादक, 'नई धारा')